वर्ष ४५ अंक १२ दिसम्बर २००७

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
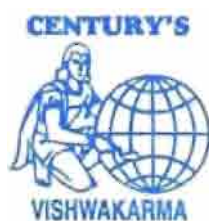
रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्द जी महाराज की महासमाधि

यह सूचित करते हुए हमें अतीव दु:ख हो रहा है कि रामकृष्ण संघ के १४वें महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने ९१ वर्ष की आयु में महासमाधि प्राप्त कर ली। विगत ४ सितम्बर २००७ को उन्हें चिकित्सा हेतु कोलकाता के रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान में भर्ती कराया गया था। उत्कृष्ट चिकित्सा की व्यवस्था उपलब्ध कराने के बावजूद उनकी अवस्था क्रमश: बिगड़ती गयी और वहीं ४ नवम्बर को अपराह्न में ५.३५ बजे उन्होंने अन्तिम सांस ली।

तदुपरान्त वहाँ से उनकी पूत काया को बेलूड़ मठ लाया गया और मठ के संस्कृति-भवन में भक्तों के दर्शनार्थ रख दिया गया था। सारी रात मठ का मुख्य द्वार भक्तों के लिये खुला रहा और अन्तिम दर्शन के लिये आनेवालों का ताँता लगा रहा। अगले दिन भी दूर-दूर से भक्तगण आते रहे। सुदीर्घ पंक्तियों में आकर लाखों दर्शनार्थियों ने उनके चरणों में अपनी प्रणामांजलि अर्पित की।

सुबह के साढ़े दस बजे उनकी पूत देह के साथ एक विशाल शोभायात्रा निकली। थोड़ी देर के लिये मुख्य मन्दिर के सामने से ठहरने के बाद यह शोभायात्रा श्री माँ सारदा देवी मन्दिर के घाट पर पहुँची। उनके मस्तक का मुण्डन तथा शरीर का गंगाजल से अभिषेक करने के बाद उन्हें एक नवीन गैरिक वस्त्र पहनाया गया। इसके बाद शोभायात्रा अन्तिम कृत्य हेतु समाधिघाट पर पहुँची। सारा परिवेश वेदमंत्रों की आवृत्ति से गुंजित हो रहा था। लगभग पौन चार बजे तक चिताग्नि शान्त हो गयी।

महाराज का जन्म १९१६ ई. के अक्तूबर में सिलहट जिले (अब बंगला देश में) के पहाड़पुर गाँव में हुआ था। अपने छात्र-जीवन में ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की जीवनी तथा उपदेशों का अध्ययन किया और उनके प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव किया। वे रामकृष्ण संघ के कुछ संन्यासियों के समर्पित जीवन से भी काफी प्रभावित हुए थे, विशेषकर ब्रह्मलीन स्वामी प्रभानन्द जी (केतकी महाराज) से, जो उनके पूर्वाश्रम के रिश्ते में भाई भी लगते थे। एक बार वे श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य स्वामी अभेदानन्द जी से भी मिल चुके हैं।

जनवरी १९३९ में २२ साल की आयु में महाराज ने रामकृष्ण संघ के भुवनेश्वर केन्द्र में प्रवेश लिया और दो माह बाद संघ के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी विरजानन्द जी महाराज से मंत्रदीक्षा प्राप्त की। १९४४ ई. में स्वामी विरजानन्द जी महाराज ने उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की और अमृत-चैतन्य नाम दिया; तदुपरान्त १९४८ ई. में उन्हें संन्यास-दीक्षा और गहनानन्द नाम प्रदान किया।

भुवनेश्वर में उन्होंने स्वामी निर्वाणानन्द जी महाराज (जो बाद में संघ के उपाध्यक्ष हुए थे) के प्रेरक मार्गदर्शन में कार्य किया। स्वामी शंकरानन्द जी (बाद में संघ के ७वें अध्यक्ष) और स्वामी अचलानन्द जी (स्वामी विवेकानन्द जी के एक शिष्य तथा संघ के उपाध्यक्ष) के भुवनेश्वर तथा पुरी आने पर महाराज को उनकी सेवा करने का सौभाग्य भी मिला था। १९४२ से १९५२ तक उन्होंने मायावती के अद्वैत आश्रम की कोलकाता शाखा में सेवा दी। इन १० वर्षों के दौरान दो बार वे निर्जन में अध्ययन तथा साधना हेतु हिमालय में स्थित मायावती आश्रम गये।

१९५३ से १९५८ तक वे शिलांग केन्द्र में रहे, जहाँ उन्होंने (स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज के एक शिष्य) स्वामी सौम्यानन्द जी के मार्गदर्शन में कार्य किया। इस काल के

दौरान उन्होंने असम में दो बार बाढ़-राहत-कार्य का भी परिचालन किया। स्वामी गहनानन्द जी की रोगी तथा पीड़ित मानवता की सेवा में विशेष रुचि थी और १९५८ ई. में उनकी मिशन के अस्पताल रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान में नियुक्ति की गयी। २७ वर्षों के सुदीर्घ काल तक वे इसकी समस्त गतिविधियों के साथ गहराई से जुड़े रहे – प्रथम ५ वर्ष तक वे उप-सचिव के रूप में उसके संस्थापक सचिव स्वामी दयानन्द जी के प्रेरणादायी निर्देशन में और तदुपरान्त १९८५ तक के २२ वर्षों तक इसके प्रमुख के रूप में।

सेवा-प्रतिष्ठान मूलत: एक आदर्श प्रसूति-गृह तथा शिशु-मंगल-केन्द्र के रूप में शुरू किया गया था और कुछ वर्षों तक उसी रूप में सुपरिचित था। परवर्ती काल में इसने जो बृहत् तथा बहुमुखी रूप धारण किया, वह मुख्यत: स्वामी गहनानन्दजी महाराज के कार्यकाल के दौरान ही हुआ। उन्होंने समाज के निर्धन तथा अल्प आय वर्ग के अधिकाधिक लोगों की चिकित्सकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसकी सेवाओं के विकास तथा विस्तार हेतु अथक परिश्रम किया। वहाँ निवास के दौरान, उन्होंने चल-चिकित्सा-इकाइयों के माध्यम से दूर के ३३ गाँवों में स्वास्थ्य-रक्षण का कार्य आरम्भ किया। इसके साथ ही उन्होंने निकट के गाँवों में नेत्रों के मुफ्त ऑपरेशन के लिए कैम्प, प्रतिवर्ष गंगासागर मेला के तीर्थ-यात्रियों के लिए चिकित्सा-सेवा और बंगलादेश के मुक्ति-युद्ध के दौरान शरणार्थियों के लिए राहत-कार्य की व्यवस्था की।

१९६५ ई. में वे रामकृष्ण मठ के ट्रस्टी और रामकृष्ण मिशन की संचालन-समिति के सदस्य निर्वाचित हुए। १९७९ में वे इन दोनों संस्थाओं के सह-सचिव नियुक्त हुए। इसके बाद भी वे मार्च १९८५ तक सेवा-प्रतिष्ठान के सचिव का उत्तरदायित्व निभाते रहे। इसके बाद वे पूर्णकालिक सह-सचिव के रूप में बेलूड़ मठ स्थित मुख्यालय में चले आये। १९८९ में वे मठ तथा मिशन के महासचिव बने और तीन वर्षों तक उसी पद पर रहने के बाद १४ अप्रैल, १९९२ में महाराज को संघ का उपाध्यक्ष चुना गया। इसके साथ ही उसी समय से वे काकुड़गाछी, कोलकाता के रामकृष्ण मठ (योगोद्यान) के अध्यक्ष भी थे। तदुपरान्त २५ मई, २००५ से रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के ट्रस्टी मण्डल तथा मिशन की कार्यकारी समिति ने उन्हें संघ का १४वाँ महाध्यक्ष चुना था।

मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष के रूप में स्वामी गहनानन्द जी ने भारत के विभिन्न अंचलों की यात्रा की और संघ के अनेक केन्द्रों तथा बहुत-से असंलग्न केन्द्रों में पदार्पण किया। १९९३ ई. में शिकागो में विश्वधर्म-महासभा कौंसिल द्वारा स्वामी विवेकानन्द के धर्म-महासभा में भाग लेने की ऐतिहासिक घटना की शताब्दी मनाने हेतु आयोजित समारोह (जिसमें दुनिया के विभिन्न अंचलों के ६५०० लोगों ने भाग लिया था) में रामकृष्ण संघ का प्रतिनिधित्व किया। उस दौरान उन्होंने संघ के अमेरिका तथा कनाडा में स्थित केन्द्रों का परिदर्शन भी किया। उन्होंने विभिन्न अवसरों पर इंग्लैंड, फ्रांस, स्विटजर-लैंड, हालैंड, रूस, आस्ट्रेलिया, जापान, म्यांमार, श्रीलंका, बंगला देश, सिंगापुर, मलेशिया तथा मारीशस के विभिन्न स्थानों का भी दौरा किया है।

इन स्थानों पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द के सन्देश का प्रचार किया और हजारों साधकों को मंत्रदीक्षा प्रदान की। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों तथा असुविधाओं पर ध्यान न देते हुए देश के सभी अंचलों से, यहाँ तक कि अति दूर स्थित गाँवों से भी आध्यात्मिक निर्देश के लिए प्राप्त हुए अनुरोधों को स्वीकार किया और वहाँ पदार्पण करके जिज्ञासुओं को मंत्रदीक्षा प्रदान की तथा सभी लोगों को शान्ति तथा मुक्ति की उपलब्धि हेतु आध्यात्मिक जीवन में मार्गदर्शन किया। ❖❖❖

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक १२

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

संस्थाओं के लिये वार्षिक ७५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,२५०

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४५ **दिसम्बर २००७** **अंक १२**

वैराग्य-शतकम्

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्काङ्क्षिणी मा स्म भू-
र्भोगेषु स्पृहयालवस्तव वशे का निःस्पृहाणामसि ।
सद्यःस्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षावस्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ।।९३।।

अन्वय – मातः-लक्ष्मि अपरं कं-चित् भजस्व मत्-काङ्क्षिणी मा स्म भूः, भोगेषु स्पृहयालवः तव वशे निःस्पृहाणां असि। सम्प्रति वयं सद्यः-स्यूत-पलाश-पत्र-पुटिका पात्रे पवित्री-कृतैः भिक्षा-वस्तुभिः-एव वृत्तिं समीहामहे ।

अर्थ – हे माता लक्ष्मी, अब तुम किसी अन्य पर कृपा करो, मेरी आकांक्षा मत करो। भोगों की इच्छा करनेवाले ही तुम्हारे वश में रहते हैं, परन्तु कामनारहित लोगों की दृष्टि में तुम्हारा क्या मूल्य है ! अब तो हम तत्काल बनाये हुए पलाश के पत्तों के दोनों में प्राप्त भिक्षा-लब्ध खाद्य पदार्थों से ही जीवन-निर्वाह करने के आकांक्षी हैं।

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ।।९४।।

अन्वय – पृथ्वी महा-शय्या, भुज-लता विपुलम्-उपधानम्, आकाशं च वितानम्, अयम् अनुकूलः अनिलः व्यजनम्, शरत्-चन्द्रः दीपः, विरति-वनिता-सङ्ग-मुदितः, शान्तः सुखी मुनिः अ-तनु-भूतिः नृपः इव शेते ।

अर्थ – भूतल ही जिसकी महाशय्या है, फैली हुई भुजाएँ ही जिसकी तकिया है, आकाश ही जिसका चँदोवा है, अनुकूल वायु ही जिसका व्यजन है, शरद् ऋतु का चन्द्रमा ही जिसका दीपक है, जिसे वैराग्य रूपी स्त्री के संग का सुख प्राप्त है; ऐसा मुनि एक असीम वैभव से सम्पन्न सम्राट् के समान शान्ति तथा सुख के साथ शयन करता है।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-सारदा-वन्दना

– १ –

दोहावली

रामकृष्ण सब पुरुष हैं, स्त्रियाँ सारदा मात,
बन्दूं नित्य 'विदेह' मैं, सबके पद-जलजात ।।१।।

उनके सुमिरन में रहे, मन प्रति पल दिन-रात ।
सबकी सेवा में लगे, यह क्षणभंगुर गात ।।२।।

बरस रही इस सृष्टि में, उनकी कृपा-प्रपात ।
अब न करे पीड़ित हमें, कोई भी संघात ।।३।।

प्राणी सब इस जगत् के, अपने ही हैं भ्रात ।
दोष-दृष्टि को त्याग दो, गुण ही देखो तात !!४।।

तन-मन, वाणी-कर्म से, करो धर्म की बात ।
जीवन में खिल उठेगा, मधुमय दिव्य प्रभात ।।५।।

– २ –

(वृन्दावनी सारंग-एकताल)

परम पुरुष रामकृष्ण, परा प्रकृति सारदा ।
अन्तर में बसकर ज्योतिर्मय करना सदा ।।

मूर्तिमन्त ज्ञान-भक्ति, अग्नि और दहन-शक्ति;
तत्त्व एक आकृति दो, अभय शान्ति मोक्षदा ।
परम पुरुष रामकृष्ण, परा प्रकृति सारदा ।।

सृजन विलय पालनादि, करत ब्रह्म-शक्ति-आदि;
पंचभूत देह धरत, धर्मग्लानि हो यदा ।
परम पुरुष रामकृष्ण, परा प्रकृति सारदा ।।

जग में लीला करने, जन की पीड़ा हरने;
आए फिर इस युग में, साधक जन सम्पदा ।
परम पुरुष रामकृष्ण, परा प्रकृति सारदा ।।

– *विदेह*

सामाजिक परिवर्तन कैसे हो?

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – हमारा प्रारम्भिक कदम क्या हो?

उत्तर – भारतवर्ष में हम सदैव राजाओं द्वारा ही शासित होते रहे हैं। राजाओं ने ही हमारे सब कानून बनाये हैं। अब वे राजा नहीं रहे, और इस विषय में अग्रसर होने के लिये हमें मार्ग दिखलाने वाला भी अब कोई नहीं रहा। सरकार साहस नहीं करती। वह तो जनमत की गति देखकर ही अपनी कार्य-प्रणाली निश्चित करती है। अपनी समस्याओं का हल निकालने वाला एक कल्याण-कारी और प्रबल लोकमत स्थापित करने में समय लगता है – काफी लम्बा समय लगता है और इस बीच हमें प्रतीक्षा करनी होगी। अत: सामाजिक सुधार की पूरी समस्या यह रूप लेती है – कहाँ हैं वे लोग, जो सुधार चाहते हैं? पहले उन्हें तैयार करो। सुधार चाहने वाले लोग हैं कहाँ? कुछ थोड़े-से लोग किसी बात को उचित समझते हैं और बस उसे बाकी सब लोगों पर जबरन लादना चाहते हैं। इन अल्पसंख्य व्यक्तियों के अत्याचार के समान दुनिया में और कोई अत्याचार नहीं। जो मुट्ठी भर लोग यह सोचते हैं कि कतिपय बातें दोषपूर्ण हैं, राष्ट्र को गतिशील नहीं कर सकते। राष्ट्र में आज प्रगति क्यों नहीं है? क्यों वह जड़भावापन्न है? पहले राष्ट्र को शिक्षित करो, अपनी निजी विधायक संस्थाएँ बनाओ, फिर कानून अपने आप ही आ जायेंगे। जिस शक्ति के बल से, जिसके अनुमोदन से कानून का गठन होगा, पहले उसकी सृष्टि करो। आज राजा नहीं रहे, जिस नयी शक्ति से, जिस नये दल की सम्मति से नयी व्यवस्था गठित होगी, वह लोक-शक्ति कहाँ है? पहले उसी लोक-शक्ति को संगठित करो। अत: **समाज-सुधार के लिये भी प्रथम कर्तव्य है – लोगों को शिक्षित करना।** जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक हमें प्रतीक्षा ही करनी पड़ेगी।[१७१]

वह प्रजा अपने सामर्थ्य को अप्रत्यक्ष और अव्यवस्थित रूप से प्रकट किया करती थी। उस शक्ति के अस्तित्व का ज्ञान उस समय भी उसे नहीं था। इसी से उस शक्ति को संगठित करने का उसमें न उद्योग था और न इच्छा ही। जिस कौशल से छोटी-छोटी शक्तियाँ आपस में मिलकर प्रचण्ड बल संग्रह करती हैं, उनका भी पूरा अभाव था।[१७२]

निन्दा काफी हो चुकी, दोष-दर्शन बहुत हो चुका! अब तो पुनर्निर्माण का, फिर से संगठन करने का समय आ गया है। अब अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करने का, उन सबको एक ही केन्द्र में लाने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को प्राय: सदियों से रुकी हुई उन्नति के मार्ग में अग्रसर करने का समय गया है।[१७३]

कुछ ग्रामीण बालकों तथा बालिकाओं को विद्या के आरम्भिक सिद्धान्त सिखा दो और उनके अनेक विचार उनकी बुद्धि में बैठा दो। इसके बाद प्रत्येक ग्राम के किसान रुपये एकत्र करके अपने-अपने गाँवों में एक-एक संघ स्थापित करेंगे। **उद्धरेद्-आत्मना आत्मानम्** – "अपने पुरुषार्थ से ही अपना उद्धार करो।" यह सभी परिस्थितियों में लागू होता है। हम उनकी सहायता इसीलिये करते हैं, जिससे वे स्वयं अपनी सहायता कर सकें। वे तुम्हें प्रतिदिन का भोजन प्राप्त करा देते हैं, यही इस बात का द्योतक है कि कुछ यथार्थ कार्य हुआ है। जिस क्षण उन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान हो जायेगा और वे सहायता तथा उन्नति की आवश्यकता समझेंगे, तब जानना कि तुम्हारा प्रभाव पड़ रहा है और तुम ठीक रास्ते पर हो। ... फिर किसानों और मजदूरों को अपनी समस्याओं का सामना और समाधान स्वयं ही करने दो।[१७४]

जीवन में मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन कर दूँ, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे और फिर स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें। हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें यह देखने दो कि और लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य एकत्र कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे कोई विशेष आकार धारण कर लेंगे।[१७५]

प्रश्न – सामाजिक परिवर्तन कब होता है?

उत्तर – विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल – जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास एकत्र करती है, वह पुन: बाँटने के लिये है; यह बात हमें याद नहीं रहती; सौपें गये धन में स्वामित्व-

बुद्धि हो जाती है, बस इसी से विनाश का सूत्रपात होता है।

... इसलिये पालन की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण आप ही आ जाता है। यदि समाज बलहीन रहा, तो वह सब कुछ चुपचाप सह लेता है और राजा-प्रजा – दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होकर शीघ्र ही किसी दूसरी बलवान जाति के शिकार बन जाते हैं। परन्तु समाज-शरीर यदि बलवान रहा, तो शीघ्र ही अति प्रबल प्रतिक्रिया उपस्थित होती है – जिसकी चोट से छत्र, दण्ड, चँवर आदि बड़ी दूर जा गिरते हैं और सिंहासन अजायबघर में रखी हुई पुरानी अनूठी वस्तुओं के सदृश हो जाता है।[१७६]

साधारण प्रजा सारी शक्ति का आधार होने पर भी उसने आपस में इतना भेदकर रखा है कि वह अपने सब अधिकारों से वंचित है और जब तक ऐसा भाव रहेगा, तब तक उसकी ऐसी ही दशा रहेगी।

लोगों का सामान्य कष्ट, घृणा या प्रीति आपस में सहानुभूति का कारण होती है।[१७७]

प्रश्न – सामाजिक परिवर्तन क्या शान्तिपूर्ण होना चाहिये?

उत्तर – धनिकों द्वारा रौंदे जानेवाले निर्धनों के लिये बल ही एकमात्र दवा है।[१७८]

निम्न श्रेणी के लोग धीरे-धीरे वह बात समझ रहे हैं और इसके विरुद्ध सब सम्मिलित रूप से खड़े होकर अपने समुचित अधिकार प्राप्त करने के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ हो गये हैं। यूरोप और अमेरिका में निम्न जातीय लोगों ने जाग्रत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है और आज भारत में भी इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा आजकल जो इतनी हड़तालें हो रही हैं, वे इनकी इसी जागृति का प्रमाण है। अब हजार प्रयत्न करके भी उच्च जाति के लोग निम्न श्रेणियों को ज्यादा दबाकर नहीं रख सकेंगे। अब उच्च श्रेणी के लोगों की इसी में भलाई है कि वे निम्न श्रेणी के लोगों के न्यायसंगत अधिकारों की प्राप्ति में सहायता करें।

इसलिये कहता हूँ कि तुम लोग ऐसे काम में लग जाओ, जिससे साधारण श्रेणी के लोगों में विद्या का विकास हो। जाकर इन्हें समझा कर कहो – "तुम हमारे भाई हो, हमारे शरीर के अंग हो। हम तुमसे प्रेम करते हैं, घृणा नहीं करते।" तुम लोगों की यह सहानुभूति पाने पर ये लोग सौ-गुने उत्साह के साथ काम करने लगेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनमें ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ-ही-साथ धर्म के गम्भीर तत्त्व इन्हें सिखा दो। उससे शिक्षकों की भी दरिद्रता मिट जायेगी और इस प्रकार के आदान-प्रदान से दोनों आपस में मित्र जैसे बन जायेंगे। ...

ऐसा नहीं हुआ, तो तुम (उच्च जाति के) लोगों का भला नहीं होगा। तुम लोग हमेशा से जो कुछ करते आ रहे हो, वह तुम्हारा पृथकता का प्रयत्न रहा है। आपस की मार-काट ही करते हुए मर मिटोगे! ये निम्न श्रेणी के लोग जब जाग उठेंगे और अपने ऊपर होनेवाले तुम लोगों के अत्याचारों को जान लेंगे, तब तुम लोग उनकी फूँक से ही उड़ जाओगे। उन्हीं ने तुम्हें सभ्य बनाया है, उस समय वे ही सब कुछ मिटा देंगे। सोचकर देखो न – रोमन सभ्यता गॉल जाति के पंजे में पड़कर कहाँ चली गयी। इसीलिये कहता हूँ, इन सब निम्न जाति के लोगों को विद्या-दान, ज्ञान-दान देकर इन्हें नींद से जगाने की चेष्टा में लग जाओ! जब वे लोग जागेंगे – और एक दिन वे अवश्य जागेंगे – तब वे भी तुम लोगों के किये उपकारों को नहीं भूलेंगे और तुम लोगों के प्रति चिर कृतज्ञ रहेंगे।[१७९]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१७१. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९), खण्ड ५, पृ. ११०-१; **१७२**. वही, खण्ड ९, पृ. २०२; **१७३**. वही, खण्ड ५, पृ. २५८-५९; **१७४**. वही, खण्ड ७, पृ. ४१२-१३; **१७५**. वही, खण्ड २, पृ. ३३२; **१७६**. वही, खण्ड ९, पृ. २१७; **१७७**. वही, खण्ड ९, पृ. २२२; **१७८**. वही, खण्ड २, पृ. १८९; **१७९**. वही, खण्ड ६, पृ. १०७-०८

श्री हनुमत्-चरित्र (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

शरीर मानो हमें प्रति क्षण उपदेश दे रहा है। वृद्धावस्था में यदि कर्म करने की क्षमता कम हुई, तो विचार करने की क्षमता बढ़ जाती है। वृद्धावस्था में व्यक्ति को चाहिये कि सारे जीवन में उसने जो कर्म किये, उसका लेखा-जोखा मिलाकर देखे कि आज तक हमने जो कर्म किए हैं, वे किस हेतु किए गये, क्या उसका उद्देश्य पूरा हो गया? और यदि व्यक्ति वृद्धावस्था में विचार करेगा, तो विचार उसे सही दिशा में ले जायेगा और वार्धक्य का सदुपयोग हो जायेगा। प्रात:काल व्यक्ति जब जागता है तो वह दिन में अपने आप को फैलाता है और संध्या होने पर जब घर लौटता है, रात में अपने शयन कक्ष में पहुँचता है, तब वह अपने आपको समेटता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में यह क्रम आता है कि दिन में वह अपने आपको फैलाता है और रात में स्वयं को समेटता है। ईश्वर ने शरीर को ऐसा ही बनाया है।

कर्म अर्थात् फैलाना। आप अपने कमरे से निकले तो अपने मकान में आये। मकान से निकले तो अपने मुहल्ले में आये और मुहल्ले से निकले तो नगर में न जाने कितने दूर चले गये। पर अन्त में जब शाम होने लगेगी तब व्यक्ति को घर लौटने की और ज्यों-ज्यों रात बढ़ने लगेगी, त्यों-त्यों विश्राम करने की – सो जाने की प्रेरणा मिलेगी। सोने के लिये वह नगर से अपने मकान में, मकान से अपने कमरे में और अपने कमरे में भी चाहे वह गृहस्थ हो अपनी पत्नी से बातचीत कर रहा हो, तो भी उसको थोड़ी देर के बाद उसे भी भूलना होगा और तब वह गहरी नींद में सो जायगा। फैलाना है कर्म करने के लिए और सोना अर्थात् समेटना। जिस व्यक्ति को इन दोनों कलाओं का ज्ञान है, वही व्यक्ति जीवन में एक सही जीवन जीता है। पर जो केवल फैलाना जानता है, समेटना नहीं जानता; उस बेचारे की दुर्दशा होती है। जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र में आप देखें – दिन का कर्म है और रात का शयन – दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

तो ईश्वर कैसा अनोखा सन्देश दे रहे हैं! दिन में हम और आप कुछ-न-कुछ बनने की चेष्टा करते हैं, जो जिसका लक्ष्य है, वह बनने की चेष्टा कर रहा है और उसी के लिए कर्म कर रहा है। दिन में जब हम कुछ बनने की चेष्टा करते हैं, तो कितना परिश्रम और कितनी भाग-दौड़ करते हैं; परन्तु रात में कैसी अनोखी बात होती है! रात अर्थात् जब हम नींद में होते हैं, तब हम कुछ भी नहीं होते। जब आप सोते हैं, तब आप क्या होते हैं? तब आपकी कौन सी जाति होती है, आपका क्या नाम होता है, आपका कौन-सा पद होता है?

आपने देखा – जब हम कुछ होते हैं, तब झगड़े होते हैं, और जब कुछ नहीं होते, तो कोई झगड़ा नहीं – आनन्द-ही-आनन्द है। रात में, नींद में हम कुछ नहीं हैं और व्यक्ति नित्य कुछ न होने का आनन्द अनुभव कर रहा है, तो भी दिन में वह सतत कुछ-न-कुछ बनने के झगड़े में लगा रहता है। उसे लगता है कि इसी में हमारी उन्नति है। रात और दिन – ये मानो जीवन के दो छोर हैं। हनुमानजी के चरित्र से जुड़े हुए सन्दर्भ से यही संकेत मिलता है। उनके चरित्र के कुछ पक्षों को आपके समक्ष रखने का प्रयास किया जायेगा।

भगवान श्रीरामकृष्ण के जीवन में एक महान् तत्व सामने आता है। अवतारों की अद्भुत भूमिका होती है, उनके अनेक कार्य होते हैं, उनमें से एक कार्य यह था – समस्त धर्मों की सत्यता सिद्ध करना। वे स्वयं भगवत्-स्वरूप होते हुए भी, साधक के रूप में उनकी साधना करते हैं और यह स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं कि वस्तुत: प्रत्येक धर्म का गन्तव्य अपने आप में सही है, सभी ठीक हैं, उसको लेकर परस्पर टकराने की आवश्यकता नहीं है।

हनुमानजी की लंका-यात्रा पर आगे सविस्तार चर्चा होगी। इस यात्रा में एक बड़ा अनोखा संकेत निहित है, पहले हम उसे केवल सूत्र के रूप में और बाद में विस्तार से देखेंगे। आप पढ़ते हैं कि इस यात्रा में हनुमानजी कई गुना बड़े हो जाते हैं और कई बार बहुत छोटे हो जाते हैं, कभी बहुत भारी हो जाते हैं और कभी बिल्कुल हल्के हो जाते हैं। इसका क्या अर्थ है? इसे किसी जादू का चमत्कार समझकर नहीं पढ़ना चाहिए। इसके पीछे एक संकेत है। ज्ञान का अभिप्राय है, व्यक्ति को कितना बड़ा बना दे, ज्ञान में उसे ब्रह्म, और ब्रह्म से अभिन्न बताया जाता है – **जीवो ब्रह्मैव नापरः** – जीव ब्रह्म मात्र ही है और ज्ञानी – **शिवोऽहम्** या **सोऽहम्** के रूप में ब्रह्म से अपनी अभिन्नता की बात करता है। दूसरी ओर भक्तिशास्त्र में व्यक्ति स्वयं को अत्यन्त विनम्र करके, छोटा मानकर – **दासोऽहम्** और **पापोऽहम्** कहता है। **पापोऽहं**

पापकर्माऽहं पापात्माऽहम् – कहकर मन्दिर में भगवान की स्तुति करता है। ऐसा लगता है कि ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। एक व्यक्ति कह रहा है – **शिवोऽहं' सोऽहम्'** और दूसरा कह रहा है – '**पापोऽहम्**'। एक व्यक्ति मान रहा है कि वह ब्रह्म से अभिन्न होने के नाते उसमें न्यूनता का लेश नहीं है और दूसरा मान रहा है कि वह अत्यन्त दीन-हीन है, अत्यन्त क्षुद्र है। दोनों बातें परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं।

इसी प्रकार भारी होना और हल्का होना भी है। कोई वस्तु वजनदार हो, तो भारी हो गई। किसी वस्तु में वजन न हो, तो वह हल्की हो गई।

हनुमानजी समस्त कलाओं में निपुण हैं। हनुमानजी का आत्मिक रूप तब देखेंगे जब वे समुद्र पार करने चले। हम पढ़ते हैं कि समुद्र के किनारे एक पर्वत है। उस पर्वत पर हनुमानजी चढ़ गये। और वहीं से हनुमानजी ने छलाँग लगाई और समुद्र के पार चले गये। हनुमानजी के जीवन की दो छलाँगें बड़ी प्रसिद्ध हैं। एक छलाँग तो उन्होंने जन्म लेने के बाद लगाई और दूसरी छलाँग समुद्र के किनारे से लगाई। छलाँग लगाने का कार्य सबका नहीं है। सब लगा भी नहीं सकते। जो लगा सकते हैं, उन्हीं का लगाना ठीक होता है। जो नहीं लगा सकते, उन्हें इसकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। बाकी सारे बन्दर भी बाद में समुद्र पार करते हैं, लेकिन पुल या सेतु के द्वारा। छलाँग द्वारा तो केवल हनुमानजी ही पार जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी नदी पर या समुद्र पर पुल हो उससे हर व्यक्ति, और यहाँ तक कि एक छोटी-सी चींटी भी उसके सहारे सरलता से पार जा सकती है। गोस्वामीजी ने सेतु की उपयोगिता बताते हुए कहा –

अति अपार जे सरित बर,
जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु
बिनु श्रम पारहि जाहिं।। १/१३

तो जीवन के दो मार्ग हैं। एक मार्ग में हमारे शास्त्रों ने जीवन में क्रमश: उत्थान की प्रक्रिया बताई है। इसमें जीवन में आगे बढ़ने के लिए एक क्रम है – पहले ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद गृहस्थ आश्रम, तदुपरान्त वानप्रस्थ और फिर संन्यास। जीवन का इन चार अवस्थाओं का विभाजन किया गया है, जिनसे व्यक्ति क्रमश: अपना उत्थान कर सकता है। परन्तु यदि कोई ब्रह्मचर्य के बाद सीधे संन्यास लगाए, तो? हमारे मिशन के जो संत बैठे हैं, इन्होंने तो ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास ग्रहण किया है। यह छलाँग की प्रक्रिया है। और यह छलाँग जो लगा सकता है, वह हनुमानजी का अनुयायी है। तात्पर्य यह कि यदि किसी में ऐसी लम्बी छलाँग लगाने की अर्थात् धीरे-धीरे ऊपर जाने के स्थान पर तत्काल सीधे ऊपर जाने की क्षमता हो, तो यह हनुमानजी का मार्ग है।

हनुमानजी छलाँग लगा सकते हैं, परन्तु जिसमें क्षमता नहीं है, उसे ऐसा दुस्साहस नहीं करना चाहिए। रामायण और महाभारत में एक संकेत आता है। अंगद और अभिमन्यु के चरित्र में एक भेद है। जब समुद्र सामने है और सारे बन्दर स्पष्ट कह देते हैं कि छलाँग लगाकर समुद्र के उस पार जाने की क्षमता हमारे पास नहीं है। सबकी अपनी-अपनी सीमा है, मर्यादा है। पर अंगद बोले – मैं पार तो चला जाऊँगा, पर सन्देह है कि लौट पाऊँगा या नहीं –

अंगद कहइ जाऊँ मैं पारा।
जियँ संसय कछु फिरती बारा।। ४/२९/१

बात बड़े पते की है। यह केवल कोई छलाँग की बात नहीं थी कि लंका जा रहे हैं, जहाँ सोना ही सोना है, सुन्दरता ही सुन्दरता है। इसका अर्थ है कि अंगद इस सत्य को जानते हैं कि लम्बी छलाँग लगाने के बाद भी कामिनी-कांचन के प्रलोभन से बचकर लौटने की क्षमता अंगद अपने भीतर अनुभव नहीं करते। इसीलिए उन्होंने कह दिया – मैं चला तो जाऊँगा, परन्तु लंका पहुँचकर, लंका के भीतर जाकर वहाँ से निकल कर वापस भी तो आना है! मैं समझता हूँ कि इतनी क्षमता मुझमें नहीं है। और अंगद का यह निर्णय बड़ी बुद्धिमत्तापूर्ण था।

दूसरी ओर ऐसे ही प्रसंग में अभिमन्यु ने बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया। कहते हैं कि महाभारत में युधिष्ठिर को परास्त करने और उन्हें बन्दी बनाने के लिए द्रोणाचार्य ने एक विशेष योजना बनाई। द्रोणाचार्य चक्रव्यूह नाम का एक ऐसा व्यूह बनाना जानते थे, जिसका रहस्य भगवान कृष्ण तथा अर्जुन के सिवा अन्य कोई नहीं जानता था। वही चक्रव्यूह बनाने की योजना बनाई गई। यह भी सोच लिया गया कि किसी तरह से भगवान कृष्ण को और अर्जुन को युद्ध क्षेत्र से दूर भेज दिया जाय। इसी योजना के अनुसार अर्जुन को किसी दूसरे योद्धा के द्वारा चुनौती दी गई और इसी बहाने वह अर्जुन से युद्ध करते हुए उन्हें बहुत दूर ले गया। उससे लड़ते हुए अर्जुन और भगवान श्रीकृष्ण युद्ध क्षेत्र से बहुत दूर हो गये। और इधर गुरु द्रोणाचार्य जी ने जब चक्रव्यूह की रचना की, तो सबके हाथ पैर फूल गये, क्योंकि इस व्यूह का रहस्य और कोई नहीं जानता था। अभिमन्यु ने कहा कि मैं चक्रव्यूह में पैठना तो जानता हूँ, पर निकलना नहीं जानता! क्यों? यह प्रत्येक श्रोता के लिए बड़े काम की बात है। अभिमन्यु बोले – "जब मैं माँ के गर्भ में था, तब हमारे पिताजी ने जब चक्रव्यूह की रचना का रहस्य माँ को सुनाना शुरू किया और जब उसमें पैठने का वर्णन किया, उस समय माँ जग रही थीं, मैंने भी सुना। बाद में माँ को नींद आ गई, तो आगे मैं भी नहीं सुन सका।" यह बड़े महत्त्व की बात है – आधी बात कभी मत सुनिए। बात सुनिए, तो पूरी सुनिए।

नींद आ जाने का अर्थ केवल शरीर से नींद से नहीं है। मन से लोग शास्त्र-ग्रन्थों को पढ़ते हैं, उसका आधा वाक्य पढ़ लेते हैं और उसका परिणाम क्या होता है? जब व्यक्ति आधा वाक्य ही पढ़ेगा तो उसी को दुहराने लगेगा। शरीर को नींद आ जाय, तो भी वही बात होगी, वह पूरी बात नहीं सुनेगा। गोस्वामीजी बोले कि बुद्धि की जड़ता भी एक प्रकार की नींद है; व्यक्ति जाग रहा है, पर उसे समझ में ही नहीं आ रहा है कि क्या कहा जा रहा है। बस, उसने आधा सुना।

इसे आध्यात्मिक अर्थों में देखें तो महाभारत के चक्रव्यूह के समान ही यह संसार भी एक चक्रव्यूह है; और उसका रहस्य या तो भगवान जानते हैं अथवा अर्जुन जैसा उनका कोई भक्त जानता है। माया के इस चक्रव्यूह में पैठना और निकलना सबके बस की बात नहीं है। पर यदि कोई ध्यान से सुने, तो वह जान लेगा कि संसार में व्यवहार के लिए तो इसमें पैठना ही होगा, पर दोनों कलाओं का ज्ञान होना चाहिए – इसमें पैठने की कला और उसमें से निकलकर आने की कला। अभिमन्यु को निकलने की कला का ज्ञान नहीं था। अभिमन्यु ने जब यह कहा, तो युधिष्ठिर-भीम बोले – "तुम चिन्ता क्यों करते हो? तुम पैठोगे, तो हम भी तुम्हारे साथ रहेंगे और तुम्हें बाहर निकाल लायेंगे। तुम चलो तो सही।"

आपको कोई भी आश्वासन दे कि चक्कर में पैठो, हम तुम्हें निकाल ले आयेंगे, तुम चिन्ता मत करो। यदि आपमें स्वयं ही निकल आने की क्षमता है, तब तो और बात है, लेकिन ये सम्बन्धी लोग तो केवल उत्साह देंगे कि चलिए, हम भी तो आपके साथ हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि अभिमन्यु अकेले पैठ गया और अनेक महारथियों ने मिलकर उसका वध कर दिया। संसार-रूपी चक्रव्यूह के साथ भी यही बात है। बाहर निकलने का रहस्य जाने बिना जब व्यक्ति उसमें पैठ जाता है, तो काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार आदि महारथी मिलकर उसे परास्त कर देते हैं। अभिमन्यु ने अपनी क्षमता की सीमा-रेखा को पार कर लिया था, इसीलिए वह नहीं लौट सका।

हनुमानजी का मार्ग कुछ थोड़े-से लोगों के लिए आदर्श हो सकता है। उनका मार्ग छलाँग का मार्ग है। उनकी दोनों छलाँगों पर हम विस्तार से चर्चा करेंगे। जब उन्हें भूख लगी, तो उन्होंने अनोखी छलाँग लगाई। दूसरी छलाँग के बाद भी उन्हें भूख लगी थी। बड़ी अनोखी बात है। कहते हैं कि अंजनाजी ने हनुमानजी को जन्म दिया, तो उन्हें बड़ी भूख लगी। उस समय आकाश में सूर्य निकल रहा था, सूर्योदय हो रहा था, तो उसको देखकर उन्होंने समझ लिया कि यह तो बड़ा सुन्दर मीठा फल होना चाहिए। बस, छलाँग लगा दी। बड़ी विचित्र कथा है। क्या वहाँ आस-पास कोई फलदार वृक्ष नहीं था? क्या उन फलों पर उनकी दृष्टि नहीं गई। और इतनी दूरी पर जो सूर्य है, उसे उन्होंने फल समझ लिया।

इस कथा का तत्त्व देखें। इसका अर्थ केवल इतना नहीं है कि हनुमानजी में प्रबल शक्ति है, बल्कि यह है कि उनकी भूख सचमुच ही बड़ी प्रबल है। फल की भूख किसे नहीं होती? हम सभी फल के ही तो भूखे हैं। हमारी वह भूख किसी-न-किसी फल के लिए है और हम उसे पाने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि फल की भूख हमारे भीतर है, तो हम चाहते हैं कि हम संसार की कोई वस्तु पा जायँ, हमें कोई बड़ा पद मिल जाय। हम ऐसे ही फल चाहते हैं – अर्थ का फल हो या काम का फल।

पर जिसने इन फलों की ओर दृष्टि नहीं डाली और सूर्य को ही फल समझ करके छलाँग लगा दी, उसकी भूख और उनका फल – दोनों ही अलग तरह के हैं। एक छलाँग तो वह थी और दूसरी छलाँग वे समुद्र के किनारे से लगाते हैं और यह सचमुच बड़ी लम्बी छलाँग थी। वैसे बन्दर तो छलाँग लगाते ही रहते हैं, पर साधारण बन्दरों की छलाँग तो होती है, इस डाल से उस डाल तक – छोटी-छोटी छलाँगें और हमारी भी यही दशा है। छलाँग लगा भी रहे हैं, तो केवल इस डाली से उस डाली पर।

पर हनुमानजी की छलाँगें बड़ी लम्बी हैं। पहली छलाँग ऐसी लगायी कि उन्हें सीधे सूर्य के पास पहुँचा दिया और दूसरी बार की छलाँग ने उनको जगज्जनी सीताजी के पास पहुँचा दिया। और वहाँ भी हनुमानजी की जब माँ से बातें हुई, तो ऊँची-ऊँची बातों के बाद हनुमानजी बोल उठे – माँ, मैं तो अतिशय भूखा हूँ –

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा ।। ५/१६/७

अब भाषा की दृष्टि से 'भूखा' एक शब्द है और यदि भूख अधिक लगी हो तो 'अतिभूखा' कहेंगे; फिर भूख उससे भी अधिक हो तो कहेंगे 'अतिसय भूखा'। – मैं अतिसय भूखा हूँ। माँ ने आश्चर्य से पूछा – तुम भूखे नहीं अति भूखे नहीं, अतिशय भूखे हो, इसका अर्थ क्या हुआ? हनुमानजी बोले – माँ, जो जन्मजात भूखा हो, उसके भूख को मैं क्या बताऊँ। जन्म लेते ही मुझे भूख लग गई और भूख मिटाने की चेष्टा की, तो इन्द्र ने वज्र चलाकर मुझे मूर्छित करने की चेष्टा की।
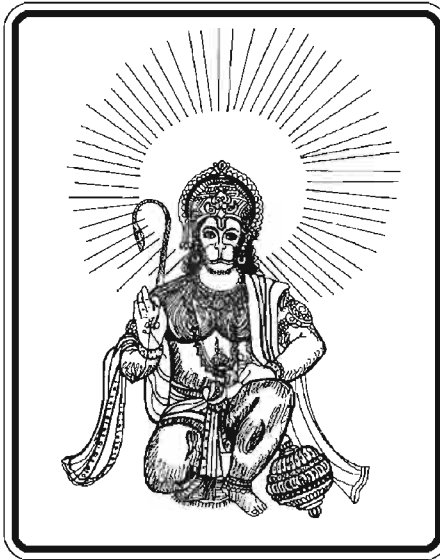
अत: मैं तो जन्मजात भूखा हूँ। माँ ने पूछा – इतनी लम्बी यात्रा करके आए, क्या तुम्हें खाने को कोई फल नहीं मिला? किसी ने तुम्हें फल नहीं खिलाया? हनुमानजी बोले – माँ, मिले तो अनेक – पहले सुरसा मिली, फिर सिंहिका मिली, लंकिनी मिली, पर सबने मुझे ही खाने की चेष्टा की, खिलाने की चेष्टा तो किसी ने की ही नहीं। **यही जीवन का व्यंग है। भूखा व्यक्ति अपनी भूख मिटाना चाहता है, पर जो भी मिलते हैं, वे सब भूखे ही मिलते हैं और एक भूखा दूसरे भूखे को खा लेना चाहता है।** हनुमानजी माँ से कहते हैं – माँ, मेरी भूख तो दूसरा कोई नहीं, केवल आप ही मिटा सकती हैं।

हनुमानजी की छलाँग और उनके कार्य – सब एक से बढ़कर एक अनोखे हैं। समुद्र को पार करना है, तो कैसे करें? सुरसा या सिंहिका पर विजय पाना है, तो कैसे पायें? लंका में कैसे प्रवेश करें, सीताजी को कैसे खोजें? इसके विस्तार में आपको एक क्रम मिलेगा। हनुमानजी के चरित्र में आप को योग-समन्वय का तत्त्व मिलेगा। किसी बुराई को उन्होंने ज्ञानयोग के द्वारा जीता, किसी को भक्तियोग से और किसी को कर्मयोग से। उन्होंने बताया कि ये सभी योग उपयोगी हैं, कल्याणकारी हैं – उचित प्रसंग में इन सभी योगों का सदुपयोग किया जा सकता है। उन सभी योगों के सन्दर्भ में हनुमानजी के अनेक रूप मिलते हैं। कहीं वे लघु हैं, कहीं अति लघु हैं, कहीं विशाल हैं, कहीं अति विशाल हैं। कहीं तो हनुमानजी इतने भारी हैं कि जिस पर्वत पर पाँव रखते हैं, वह तत्काल पाताल में चला जाता है –

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता।
चलेउ सो गा पाताल तुरंता।। ५/१/७

वे ही जब लंका जलाने लगे तो देखने में शरीर उतना ही विशाल है, पर बिल्कुल हल्के थे, बोझ बिल्कुल नहीं है –

देह बिसाल परम हरुआई।। ५/२६/१

जब रावण ने उनसे कहा – ऐ बन्दर, तू मुझे उपदेश दे रहा है, मैं महाज्ञानी हूँ, तेरा कल्याण करके भेजूँगा। जीव की ममता नष्ट हो जाय, यही जीव की धन्यता का उपाय है। बन्दरों को अपनी पूँछ से बड़ी ममता होती है। मैं तेरी पूँछ को ही जला दूँगा, ताकि तू ममता से मुक्त होकर लौटे –

कपि कें ममता पूँछ पर, सबहि कहउँ समझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ।।

हनुमानजी ने मुस्कराते हुए एक खेल किया। उन्होंने अपनी पूँछ को फैलाया। यथावश्यक कभी छोटा बना लिया, कभी बड़ा बना लिया। इसमें हनुमानजी का यह संकेत था कि तुम कहते हो कि मेरी पूँछ में ममता है, पर **जो इस ममता को फैलाना और समेटना दोनों जानता है, वह कभी दुःख नहीं पाता।** तुम्हारा दुर्भाग्य है कि तुमने अपनी ममता को सोने की लंका में फैला तो लिया है, पर इसे समेटना नहीं जानते। मेरी पूँछ तो नहीं, तुम्हारी लंका ही जलेगी।

जीवन की इस अद्भुत कला में सभी योगों की उपयोगिता है। हमारा शरीर सारा संकेत देता रहता है, परन्तु यदि उसको हम देख और समझ सकें! प्रसंग का विस्तार तो हो ही गया, अब समेट भी लें, समय की सीमा का प्रश्न है, इसलिए समेटना होगा।

मनु जब वृद्ध हुए, तो उन्होंने समझ लिया कि अब समेटने का समय आ गया। जीवन का लक्ष्य यही है कि हम ईश्वर को पा लें। तब उन्होंने साधना की और ईश्वर को पा लिया। प्रतापभानु बड़ा धर्मात्मा था। सब कुछ धर्म-कर्म करता था, पर उसका दुर्भाग्य यह था कि वह वन में गया। वैसे वन में तो दोनों गये थे, पर एक वन में भगवान को पाने के लिए गया और दूसरा वन में शिकार खेलने के लिए गया। दोनों को वहाँ मुनि मिले, पर एक को कपट-मुनि मिले और दूसरे को सच्चे मुनि मिले। मनु को वास्तविक मुनि मिले, जिन्होंने उनको भगवान से मिला दिया और प्रतापभानु को कपट-मुनि मिल गया। आपको जैसे मुनि की जरूरत होगी, वैसे ही मिलेंगे। यह शिकायत मत कीजिये कि आजकल अच्छे मुनि नहीं होते। अच्छे और बुरे तो हर युग में होते हैं, पर प्रश्न है कि आपको जरूरत कैसे मुनि की है? प्रतापभानु को जिस मुनि की जरूरत थी, वे मिल गये। कपट-मुनि ने प्रतापभानु से पूछा – क्या चाहते हो? इस पर वह बोला – "महाराज, ऐसी कृपा करें कि हम कभी बूढ़े न हों, कभी न मरें, कभी न हारें।" यदि इसी के लिए किसी मुनि की खोज कर रहे हैं, तो कपट-मुनि ही तो मिलेगा। शरीर तो विनाशी है ही, पर उसने यही माँग की –

जरा मरन दुख रहित तनु, समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि, राज कलप सत होउ।। १/१६४

एक दशमुख बन गया और दूसरा दशरथ बन गया। इसमें संकेत यह है कि यदि हम इस शरीर के सत्य को, जीवन के सत्य को समझ सकते हैं, तो हम दशरथ बन सकते हैं; परन्तु जो सम्भव नहीं है, उसे पाने की, पकड़ने की चेष्टा करते हैं, तो हम दशमुख बन जाते हैं। इस सन्दर्भ में फिर यह सूत्र दिया गया कि ईश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार लेने की घोषणा की और देवताओं ने बन्दरों के रूप में तथा भगवान शंकर ने हनुमानजी के रूप में आकर उनके साथ रहकर उनकी सेवा की। क्या तात्पर्य है इसका? भगवान शंकर हनुमानजी के रूप में वानर शरीर ग्रहण करके जो महान् आदर्श उपस्थित करते हैं, वह सबके लिए कितना हितकर है, कितना उपादेय है, इसकी चर्चा आगे होगी।

❖ (क्रमशः) ❖

भागवत की कथाएँ (४)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

पंचम स्कन्ध

जड़भरत

(माया ही सारे बन्धनों का कारण है। राजर्षि भरत को हिरण के बच्चे की माया में पड़कर हिरण का जन्म लेना पड़ा था। वैसे परवर्ती जन्म में जब वे अनासक्त-भाव से जीवन-यापन करने लगे तब उनके भीतर अनन्त ज्ञान का उदय हुआ। उनके सरल, सहज, निर्विकार जीवन को देखकर सभी लोग उन्हें मूर्ख या जड़ समझते थे; इसी से उनका नाम भरत से जड़भरत हो गया। बाहर से जड़बुद्धि प्रतीत होने पर भी उनके भीतर परम ज्ञान था।)

मनु के दो पुत्र थे – उत्तानपाद और प्रियव्रत। हमने ध्रुव उपाख्यान में उत्तानपाद की कथा देखी। अब प्रियव्रत के वंश की कथा बतायी जाएगी। प्रियव्रत के एक वंशधर थे ऋषभदेव। ऋषभदेव को सौ पुत्र थे। उनमें से सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था। कहते हैं कि उन्हीं के नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष हुआ। कुमार भरत को धीरे-धीरे युवावस्था प्राप्त हुई। ऋषभदेव ने भरत को राज्यभार सौंपा और तपस्या करने बदरीधाम चले गए। वहाँ उन्होंने नर-नारायण की उपासना की और परम पुरुष की महिमा प्राप्त की।

महाराज भरत अनेक यज्ञों का अनुष्ठान करके बड़े सुचारु रूप से प्रजा-पालन करने लगे। परन्तु अधिक दिनों तक उन्हें राज्यसुख अच्छा नहीं लगा। पुत्रों को राज्य का दायित्व देकर वे तपस्या के लिए पुलकाश्रम में निवास करने लगे।

वह आश्रम परम मनोरम था। उत्तर दिशा में कलकल ध्वनि से गण्डकी नदी बह रही थी। उसी नदी के तट पर वे ध्यान और भगवान के नाम का जप किया करते। हिरण-हिरणियाँ आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करतीं और नदी में पानी पीतीं। परन्तु एक दिन वहाँ एक गरजता हुआ सिंह आ पहुँचा। उसी समय एक गर्भवती हिरणी ने प्राणों के भय से नदी पार करने के लिए छलाँग लगाया। इसके फलस्वरूप उसके गर्भ का बच्चा नदी के जल में गिरकर बहने लगा। हिरणी नदी के दूसरे तट पर पहुँचकर अपने को बचाने के लिए एक गुफा में घुस गयी। किन्तु कुछ ही क्षणों के बाद वह भी मर गयी।

ये सब कुछ राजर्षि भरत की आँखों के सामने ही घटा। कोमलहृदय राजा तत्काल दौड़कर बहते हुए असहाय हिरण-शावक को जल से बाहर ले आए। उसकी जान बच गयी।

राजा हिरण के बच्चे को अपने आश्रम में ले आये और बड़े स्नेहपूर्वक उसका लालन-पालन करने लगे। उस बच्चे के ऊपर उनकी माया-ममता उमड़ पड़ी। वे उसके खाने के लिए कोमल घास इकट्ठी करते। उसे अपनी गोद या पीठ पर रखकर उसे दुलारते। धीरे-धीरे राजा का योग-याग, ईश्वर-आराधना आदि घट गया। मृग-शावक की चिन्ता ही उनका प्रधान कार्य हो गया। धीरे-धीरे राजा के जीवन की अन्तिम घड़ी आ पहुँची। मृग-शावक का चिन्तन करते-करते राजा भरत इस संसार से विदा हुए।

मरते समय व्यक्ति जिसका चिन्तन करता है, उसी का शरीर उसे अगले जन्म में मिलता है। अत: राजा भरत ने हिरण के रूप में जन्म ग्रहण किया। परन्तु तपस्या के बल से उन्हें अपने पूर्वजन्म की सारी बातों का स्मरण हो आया। उन्हें अपने पूर्व जन्म की आसक्ति पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसी पश्चात्ताप की आग में जलकर उनके पूर्वजीवन के पाप भस्म हो गये। कुछ काल बाद उनकी हिरण-देह का अन्त हो जाने पर उनका एक वेदज्ञ ब्राह्मण के घर में जन्म हुआ।

भरत के पिछले दो जन्मों की स्मृति इस जन्म में बड़े काम की सिद्ध हुई। कहीं इस जन्म में भी किसी से आसक्ति न हो जाय, इस आशंका से वे किसी के साथ ज्यादा मिलते-जुलते न थे। वे जड़, गूँगे और बहरे की भाँति आचरण करते। उनके पिता अनेक विद्याओं के ज्ञानी पण्डित थे, पर बहुत प्रयास करके भी वे अपने पुत्र को कुछ सिखा नहीं सके। जड़बुद्धि मानकर सभी उन्हें जड़भरत कहा करते थे।

दिन बीत जाते हैं।

पिता का देहान्त हुआ। उसके बाद माँ की भी मृत्यु हुई। भाइयों ने भी भरत को लिखना-पढ़ना सिखाने की खूब चेष्टा की, पर उसका कोई फल न होने पर उन्हें खेत-खलिहान के काम में लगा दिया। एक दिन राजा रहूगण पालकी पर बैठे उसी रास्ते से जा रहे थे। एक कहार कम हो गया था। किसे लिया जाये ! उन्होंने जड़भरत को ले लिया, परन्तु वे (जड़भरत) अपने भाव में डूबे थे। पालकी उनके कन्धे पर थी – कभी धीरे-धीरे चलते थे और कभी बिलकुल ठहर जाते थे। राजा कुपित होकर इस नये कहार को डाँटने लगे – "लगता है तुम थके-माँदे हो, इसीलिये चल नहीं पाते। तुम तो रोगी भी नहीं हो ! देखने में अच्छे-खासे स्थूलकाय दिख रहे हो, क्या तुम जराग्रस्त निकम्मे आदमी हो या जीते जी ही मुर्दे हो गये हो? लगता है, बिना दण्ड दिए तुम काम नहीं करोगे !"

जड़भरत बाहर से देखने में जड़-जैसे लगते थे, परन्तु उनके भीतर असीम-अनन्त ज्ञान का भण्डार था। इस बार उन्होंने उत्तर दिया – "मैं थका-माँदा नहीं हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ – मैं आत्मा हूँ। मैं किसी रास्ते नहीं चलता। मुझे थकान क्यों होगी? आप चाहे मेरा उपहास करें या मेरी भर्त्सना करें। वैसे पालकी का तो कोई विशेष बोझ नहीं है। पालकी के अन्दर जो बैठे हैं उनका क्या कोई गन्तव्य स्थान है? आपने जो स्थूलकाय कहकर मुझ पर व्यंग्य किया है – वह ठीक ही कहा है। पंचभूत रचित इस शरीर को ज्ञानीजन 'स्थूल' ही कहते हैं। उसे कभी भी चेतन नहीं कहा जा सकता। जिस किसी ने देह का अहंकार लेकर जन्म लिया है, उसी को स्थूलता है, उसी को बोझ है, उसी को भूख-प्यास है, उसी को थकान है। मैं शरीर नहीं हूँ, इसलिए मुझे वह सब नहीं है। और यदि आप मुझे देहाभिमानी मानते हैं तो मैं जन्म-ग्रहण करने के समय से ही मरा हुआ हूँ। देहाभिमानी (अपने को शरीर माननेवाले) की एक दिन मृत्यु होगी ही। जिसने आत्मा को नहीं जाना, वह जीवित रहते हुए भी मृत ही है। और आप दण्ड देकर मुझसे काम करायेंगे? उससे क्या होता है? मालिक और नौकर का सम्बन्ध (नाता) यदि सदा-सर्वदा स्थिर रहता, तभी एक व्यक्ति दूसरे को काम में नियुक्त कर पाता। आज यदि आपका राज्य चला जाए और आपकी जगह यदि मैं राजा हो जाऊँ तो! तो आपका और मेरा सम्बन्ध उलट जायेगा। पागल या जड़ के समान आचरण करने पर भी मुझे ब्रह्मभाव की प्राप्ति हुई है। यदि आप सोचते हों कि मैंने ब्रह्मभाव की प्राप्ति नहीं की है, मैं मुक्त नहीं हूँ, मैं जड़ स्वभाव का हूँ, तो भी मुझे सीख देने की चेष्टा से कोई लाभ नहीं होगा। जड़ स्वभाव वाले व्यक्ति को शिक्षा देकर, शिक्षित करके उन्नत नहीं किया जा सकता।

"पहले मैं भरत नामक राजा था। संसार की सारी आसक्तियों से मुक्त होकर ईश्वर की आराधना किया करता था।[१] दुर्भाग्यवश एक हिरण के प्रति मेरा मन ऐसा आसक्त हो गया कि मुझे हिरण के रूप में जन्म लेना पड़ा। किन्तु मैंने कृष्ण की आराधना की थी, अत: हिरण-देह में भी मेरी पूर्व स्मृति लुप्त नहीं हो सकी। लोगों के सम्पर्क में आने पर कहीं फिर माया में आबद्ध न हो जाऊँ, इसीलिए मैं स्वयं को गुप्त रखकर नि:संग अवस्था में घूमता-फिरता रहता हूँ।"

१. अहं पुरा भरतो नाम राजा, विमुक्त-दृष्ट-श्रुत-सङ्ग-बन्धः।
आराधनं भगवत ईहमानो, मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः॥
सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर! कृष्णार्चन-प्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो विशंक-मानोऽविवृतश्चरामि॥
(५/१२/१४-१५)

राजा रहूगण जड़भरत की बातें सुनकर अवाक् रह गए। उन्होंने पालकी से नीचे उतरकर उनके चरणों पर पड़कर प्रणाम किया। वे बोले – "प्रभो, मुझे क्षमा करें। मैं आपको समझ नहीं सका था। आपकी महिमा अपार है! आपने शास्त्र की जो बातें कहीं, उनका तात्पर्य मैं समझ नहीं सका हूँ। आपकी इन सब बातों को सुनकर मुझे ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है। आप दया करके मेरे ऊपर स्नेह-दृष्टि डालें। मैं राजा हूँ – इसी अहंकार से मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। आपके समान साधु-पुरुष का अपमान करके मैंने महापाप किया है। इस पाप से मेरी रक्षा कीजिए।"

रहूगण ने और भी कहा – "ब्रह्मज्ञ लोग कब किस भाव में रहते हैं, यह समझ में नहीं आता। इसी से मैं छोटे शिशु से से लेकर बालक, युवक आदि सबको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। जो ब्रह्मज्ञ पुरुष अवधूत के दीन वेश में भ्रमण करते रहते हैं, राजागण उनका आशीर्वाद प्राप्त करें।[२]

राजा रहूगण को आश्वस्त करने के बाद महाज्ञानी भरत ने उन्हें अनेक उपदेश दिए। वे बोले – "संसार का मार्ग अति दुर्गम है। इस पर सावधानी के साथ चलना पड़ता है। जैसे पथिक धन की खोज में घूमते हुए जंगल के बीच में जाकर रास्ता भूल जाता है, वैसे ही जीव भी इस संसार-रूपी वन में सुख की खोज में घूमते हुए मार्ग भूल जाता है। सुख तो उसे मिलता नहीं। उल्टे रुपये-पैसे आदि जो कुछ उसके पास थे, उसे वन के छह डाकू (काम, क्रोध आदि रिपु) छीन लेते हैं; उसी प्रकार जैसे भेड़िया भेंड़ की गर्दन पकड़कर उसे घोर वन में ले जाता है; जंगल के सियार जैसे किसी असावधान राही को पाकर उसे पकड़ कर खींचते हुए घने जंगल में ले जाते हैं और लता-पत्तों से ढँके हुए गड्ढे में फेंक देते हैं।

– "परन्तु इस संकट के हाथ से बचने का उपाय क्या है?" भरत ने राजा को वह भी बताया। वे बोले – "सांसारिक लोगों में जो लोग संयत होते हैं, अपने समस्त कर्म भगवान को अर्पित करते हैं, वे बच जाते हैं। जो लोग हाथ में ज्ञान का खड्ग लेकर श्रीहरि की सेवा में निरत रहते हैं, वे संसार रूपी वन को अनायास ही पार कर जाते हैं। दस्युगण उनका कुछ बिगाड़ नहीं पाते।"

भागवत के कई अध्यायों में निबद्ध जड़भरत के उपदेश मोतियों की भाँति जाज्वल्यमान हैं।

१. नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो, नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः।
ये ब्राह्मणा गामवधूत-लिङ्गाश्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्॥
(५/१३/२३)

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम की आत्मकथा (४५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

काठियावाड़ की ओर

लाठी से बाबरा होते हुए जसदन गया और फिर वहाँ से घेला सोमनाथ मन्दिर का दर्शन करने गया था।

लाठी से करीब पाँच मील चलने के बाद एक छोटा-सा गाँव पड़ता है, जो बड़ौदा राज्य के अधीन है और आमरेण्य सूबे में पड़ता है। सुबह के दस बजे वहाँ पहुँचकर गाँव के बाहर एक छोटे शिव-मन्दिर में बैठा था कि एक ब्राह्मण ने आकर पूछा – "कहाँ से आगमन हुआ है?" इसके बाद भिक्षा के लिए आमंत्रित कर चला गया। साढ़े बारह या एक बजे बुलाने आया। बड़ी थकान लग रही थी, रात वहीं बिताने की सोचकर उससे पूछा – "झोली साथ लाऊँ या मन्दिर में ही छोड़ जाऊँ।" उसने कहा – "हाँ, मन्दिर में रख दें, भय की कोई बात नहीं।" झोली में एक डायरी, गीता, उपनिषद्-संग्रह, एक कपड़ा, छुरी, अन्य दो-चार काम की चीजें थीं। एक गर्म चादर भी थी। ब्राह्मण उसे भी रखकर जाने को कह रहा था, परन्तु आवश्यक वस्तु होने के कारण उसे मैंने अपने साथ ही रखा। छोटा-सा एक कम्बल छोड़ गया था। घर जाने पर पता चला कि ये स्थानीय स्कूल में शिक्षक थे। मुझे भोजन के लिए बैठाकर वे जल्दी से कहीं चले गये और मैं भोजन के बाद भी वहीं बैठा रहा। काफी देर के बाद पसीने से तर-बतर शरीर लिये वे लौटे। इसी बीच स्कूल के प्रधान अध्यापक आये और कह गये थे कि लौटते समय मैं उनके स्कूल में आऊँ और वहीं से मन्दिर चला जाऊँ। स्कूल अंग्रेजी माध्यम का था। उसे देखकर तथा बातचीत करने के बाद एक बड़े लड़के के साथ मैं मन्दिर लौटा।

देखा – झोली-कम्बल आदि सब नदारद है। लड़के की मार्फत प्रधान अध्यापक को खबर भेजा कि सब चोरी हो गया है। तभी मन में तत्काल आया कि उन ब्राह्मण मास्टर ने ही यह काम किया है। पूरे गाँव में बात फैल गई है और मुझे ले जाकर स्कूल में स्थान दिया गया। एक सम्पन्न ब्राह्मण ने तत्काल खद्दर की एक नयी बड़ी चादर ला दी, एक वस्त्र भी मिला। बड़ौदा पुलिस के सब-इंस्पेक्टर किसी कार्यवश उस गाँव में आये हुए थे। उन्होंने लोगों से पूछताछ शुरू कर दी। मुझसे पूछा – "किस पर सन्देह होता है।" परन्तु मुझे बताने की इच्छा नहीं हुई। देखा – जिन ब्राह्मण देवता ने इतने यत्नपूर्वक भिक्षा दी थी, अब पास भी नहीं फटक रहे हैं। आँखों से आँखें भी नहीं मिला पा रहे थे। समझने में बाकी नहीं रहा कि यह काम उन्हीं का है। सब-इंस्पेक्टर से कहा कि वे ढिंढोरा पिटवा दें कि – "जिसने भी पुस्तकें ली हैं, वह उन्हें कहीं आसपास के बेड़े के किनारे या मैदान में रख जाय, तो यही उसकी बड़ी कृपा होगी।" इसके लिए तीन दिनों तक वहाँ ठहरा। प्रतिदिन सुबह लोग खोजते, परन्तु उसने दया करके पुस्तकें नहीं लौटायीं।

चौथे दिन – बाबरा गया। बाबरा लगभग एक दर्जन काठी दरबारों की सम्पति थी। कभी वहाँ समृद्धि थी, परन्तु इस समय दरबारों की माँग काफी बढ़ जाने से लोग भय के कारण विशेष कुछ करना नहीं चाहते। वैसे इस समय वह एजेंसी की व्यवस्था में है, इस कारण लोग कुछ-कुछ मामलों में निश्चिन्त रहते हैं। भोजन आदि करने बाद शाम को सोचा कि पास के गाँव में रहूँगा और अगले दिन जसदन के लिये रवाना हो सकूँगा। एक व्यक्ति संक्षिप्त मार्ग बता देंगे। पहाड़ के ऊपर से जाकर दूसरी ओर उतरते ही एक गाँव पड़ता है। इससे दो-तीन मील का चक्कर बच जायेगा।

पगडंडी से ऊपर चढ़ने लगा, तो रास्ता खतम होने का नाम ही नहीं ले रहा था। पहाड़ की चोटी तक पहुँचते ही संध्या हो गई। कृष्णपक्ष की रात थी और रास्ता दीख नहीं रहा था। नीचे से जो एक मन्दिर की तरह दीखता है वह केवल पत्थरों का ढेर था – कोल जाति के लोगों का चण्डी देवी का स्थान। उस तरफ उन लोगों को कोली कहते हैं।

अब क्या किया जाय? जल्दी से त्रिशिरा तथा मनसा की झाड़ियों की सूखी डालियाँ एकत्र कीं। उस पहाड़ के पास और कोई भी पेड़-पौधे न थे। लोग देवी को नारियल चढ़ाकर उसके रेशे फेंक गये थे। उन्हीं के ऊपर काठ के कुछ टुकड़ों को सजाकर आग जलायी। जिधर से जोर की हवा आ रही थी, उधर से आड़ करके चद्दर आदि लपेटकर एक पत्थर के सहारे बैठ गया। इतनी ठण्ड पड़ी थी कि नदी में बर्फ जम गई थी और बहुत-से लोग ठिठुर कर मर गये थे। आग थोड़ी देर तो जली, परन्तु उसके बाद केवल धुँआ उठने लगा। झाड़ी के धुँए से आँखों में जलन होने लगी। आधी रात से तेज हवा चलने लगी और मैं ठण्ड से काँपने लगा। सोचा –

हृदय की गति रुक जायेगी और शरीर वहीं पड़ा रह जायेगा। अस्तु, पहाड़ की चोटी और देवी का स्थान! ऐसी जगह मृत्यु होना कोई बुरी बात नहीं है। सारी रात इसी तरह काँपते हुए बीती। सूर्योदय होने पर थोड़ी राहत मिली। ठंड से एक रात में ही शरीर काला पड़ गया था। किसी तरह पहाड़ से उतरकर एक खेत में पहुँचा, जहाँ कुँए से पानी निकलना शुरू हो गया था। चमड़े के थैलों में बैलों की सहायता से पानी खींचा जा रहा था। कुँए के गर्म पानी से स्नान करने के बाद देह में थोड़ी सजीवता आई।

इसके बाद गाँव में गया। चौरे पर पहुँचते ही पाठशाला के शिक्षक ने स्वागत किया। उस दिन गाँव के पटेल के मकान पर एक विशेष भोज था। रात के उस कष्ट के बाद घी में पका हुआ भोजन करके शरीर को बड़ा लाभ हुआ। पटेल श्रीरामकृष्ण के सेवक मथुरबाबू के समान – सुन्दर, राजचिह्न से युक्त दिखते थे। उनका ग्राम के आधे से अधिक भूमि पर आधिपत्य था और वे पौराणिक राजाओं की भाँति बहुत-से गो आदि पशुओं तथा प्रचुर धन-धान्य के स्वामी थे।

संक्षिप्त रास्ते ने मुझे लम्बे रास्ते में भटका दिया था और भूल से विपरीत दिशा में हाजिर हुआ था। मुझे जिस गाँव में जाना था, वहाँ से छह-सात मील दूर पहुँच गया था। यहाँ से भी जसदन के लिये एक रास्ता है और वह भी शार्टकट है तथा जंगल के बीच से होकर जाता है। मन में फिर संक्षिप्त रास्ते से ही जाने की इच्छा हुई। भाग्य में दुर्भोग लिखा हो, तो भला कौन रोक सकता है? जंगल का रास्ता पकड़ा। केवल तीन मील चलने के बाद ही जंगल में एक नेहसड़ा (गायों को साथ लेकर जंगल रहनेवालों की बस्ती) मिलती है। रात को वहाँ रहने के बाद अगले दिन केवल दस-बारह मील चलकर ही जसदन पहुँचा जा सकता था।

विचित्र पथ-प्रदर्शक

संध्या हो गई। घनघोर जंगल! अधिकांश काटेंवाले खेजड़ी के पेड़ थे। और नेहसड़ा कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था। कोई मानव-आकृति भी नहीं दीख रही थी कि उससे पूछ लूँ। वनपथ पर धीरे-धीरे चल रहा था। रात के नौ-दस बजे होंगे। चाँद थोड़ा दीख रहा था। प्रतिक्षण हिंस्र जन्तुओं के आक्रमण से प्राण जाने की आशंका थी।

धीरे-धीरे चल रहा था। थोड़ी देर बाद देखा कि सिर पर एक विशाल काठियावाड़ी पगड़ी पहने एक विराटकाय व्यक्ति हाथ में बन्दूक लिये सामने से चला आ रहा है।

मैंने सोचा – "चलो अच्छा ही हुआ। गाँव का एक आदमी मिला।" ३०-३५ हाथ की दूरी से ही उसने हाँक लगायी – "कौन आ रहा है?" मेरे भीतर से मानो किसी ने दुष्टतापूर्वक ही कहा – "तुम कौन हो?" सुनते ही वह बन्दूक को सीधा तानकर खटाखट पास चला आया। गेरुआ देखकर बोला – "बाबाजी, यहाँ जंगल में कहाँ से?" इस पर मैंने सब कह सुनाया और पूछा कि पास में कोई गाँव या कुँआ है क्या, जहाँ मैं रात बिता सकूँ? खूब प्यास भी लगी थी। वह एक वनपथ दिखाकर बोला – "इसी को पकड़कर सीधे चले जाने पर करीब एक मील ऊपर कोलियों का एक गाँव है – शानपुरा। वहाँ नदी भी है। मैं बोला – "यदि आप कृपा करके थोड़ा आगे तक पहुँचा दें, तो बड़ी खुशी होगी। तीन मील के स्थान पर न जाने कितना रास्ता चलता रहा हूँ, इसका कोई हिसाब नहीं है। बड़ा कष्ट हुआ है। आदि।"

थोड़ी देर सोचने के बाद उसके मन में दया आयी और वह मुझे साथ लेकर चल दिया। गाँव के सामने ही पहाड़ी नदी थी, कल-कल कर पानी बह रहा था। चारों ओर निस्तब्धता फैली थी। आधी रात का समय था। वह बोला – "वह देखिये, उस पार गाँव है। चौरे में जाकर ठहर जाइये।" मैंने कहा – "देखिये, मैं अनजाना आदमी हूँ। मुझे इस पोशाक में देखकर हो सकता ही कुत्ते ही फाड़ डालें। और जब यह कोलियों का गाँव है, तो इसमें भयंकर कुत्ते तो होंगे ही। वे बाघ के समान होते हैं, मुझे फाड़ खायेंगे!"

वह बोला – "तो फिर इधर – गाँव के बाहर वह जो खुली जगह दिख रही है, वहीं चले जाइये। वहाँ बाबरा दरबार के मामा हैं, थैला भरने (मालगुजारी के रूप में फसल का भाग लेने) आकर थलावाड़ (खलिहान) में ठहरे हैं। (थलावाड़ फसल रखने के स्थान को कहते हैं।)"

मैंने कहा – "आपने इतना कष्ट उठाकर यहाँ तक पहुँचा दिया है, थोड़ा अनुग्रह और कर दीजिये – अनजाने, अपरिचित मार्ग पर इतनी रात गये कैसे जाऊँ?" (थोड़ा हँसकर) – "नहीं, उस पार नहीं जा सकूँगा। आप स्वयं ही जाइये। अच्छा, राम राम!" इतना कहकर वह चला गया।

मैंने उसी खलिहान के द्वार पर जाकर – "मामाजी हैं, मामाजी!" कहकर पुकार दी। ४-५ लोग हाथ में लाठी, सोटा, बल्लम आदि लिये शोरगुल मचाते हाजिर हुए। बोले – "कौन हो तुम?" मैंने कहा – "पोशाक नहीं देखते? पहले बताओ कि मामाजी हैं या नहीं?" उन लोगों ने सोचा कि लगता है मामाजी के साथ इन बाबाजी का परिचय होगा। बोले – "वे हैं, लेकिन इस समय सो रहे हैं।" मैं – "तो अच्छा है, उन्हें सोने दो। मैं रात में यहीं ठहरना चाहता हूँ, सुबह चला जाऊँगा।" इस पर वे लोग आपस में बातें करने लगे कि क्या किया जाय! इसी बीच शोरगुल से मामाजी की नींद खुल गयी। तब वे लोग मुझे उनके पास ले गये। राजकोट में कहीं पर मामाजी ने मुझे देखा था। मुझे देखते ही बोले – "आप राजकोट में रहते हैं?" मैंने कहा – "इस समय तो वहीं हूँ, रास्ता भूलकर इधर आ निकला हूँ। घेला सोमनाथ जा रहा हूँ, जसदन होते हुए जाऊँगा।"

– ''आपको यह स्थान किसने बताया?

मैंने यथासम्भव उस पथ-प्रदर्शक काठी भाई की आकृति का वर्णन किया। वे बोले – ''एँ, कहते क्या हैं ! यहाँ आया था ! ओ बाबा, वह तो एक वहार-वटिया – महा-डाकू है। उसे पकड़ने के लिये बहुत दिनों से प्रयास चल रहा है, परन्तु वह किसी भी प्रकार पकड़ में नहीं आता। एँ, तो आपको रास्ता दिखाते हुए वह इतनी दूर तक आया था ! कुछ बोला नहीं !'' भय से मामाजी के दोनों नेत्र चारों ओर घूमते देखकर मैं बोला – ''नदी के उस पार तक आकर लौट गया। मैंने यहाँ तक साथ आने को कहा था, पर नहीं आया। बोला – वहाँ नहीं जाऊँगा।''

– ''क्या कहा, इतने पास आया था? ओ बाबा, वह तो अच्छा घोड़ा देखते ही उसे लेकर चला जाता है। और जरा-सा कुछ होते ही गोली मार देता है। अचूक है उसका निशाना। एँ, तो उसने आपको कुछ भी नहीं कहा?''

– ''मुझे क्या कहता ! मेरे पास है भी क्या, जो कुछ कहता ! देखा कि बिल्कुल फकीर – साधु बाबा हैं, इसीलिये एक मील रास्ता साथ लाकर जगह दिखाकर चला गया। न दिखाता, तो मुझे रात भर जंगल में ही पड़े रहना पड़ता।''

मामाजी ने मुझे रात में ही एक आदमी के साथ गाँव के चौरे में भेजा। चौकीदार कोली था, शराब के नशे में चूर था। उसने एक खाट दी, जो खटमलों से भरी हुई थी। फिर चौरे का लाल आँखोंवाला एक भयंकर काला कुत्ता भी था। उसने तंग करना शुरू किया। ज्योंही थोड़ी-सी तन्द्रा आती, त्योंही आकर पाँव में काटता। मैं उसे लाठी से भगाता। पर थोड़ी देर बाद वह मुझे उसी प्रकार जगा देता। उसने जितने भी बार मुझे इस प्रकार जगाया, मैंने देखा – चौकीदार मुझे घूर-घूर कर देख रहा है। उसके हाथ में फरसा है ! दृष्टि भयंकर है ! मुझे जगा हुआ देखते ही चला जाता था। कई बार ऐसा ही देखने पर मेरे मन में सन्देह हुआ – इसका उद्देश्य ठीक नहीं प्रतीत होता। कहीं प्रहार ही न कर बैठे ! उसने सुना तो होगा ही कि यह प्रसिद्ध वहार-वाटिया डाकू के साथ आया था। और सम्भव है इसी कारण शायद वह मुझे सन्देह की दृष्टि से देख रहा हो। बाकी रात फिर नींद नहीं आयी। (वहार-वाटिया डाकू पूर्वसूचना देकर लूट-पाट आदि करता है। जिसके विरुद्ध यह घोषणा करता है, केवल उसी या उसके सम्बन्धियों का ही नुकसान करता है, दूसरों का नहीं।)

सुबह स्नान आदि करने के बाद स्वस्थ महसूस करने लगा। दूध-चाय आदि पीने के लिये मामाजी का आदमी आकर मुझे बुलाकर ले गया। चाय पीते हुए उस डाकू के बारे में बहुत-सी बातें सुनने में आयीं। मामाजी तो बड़े ही विस्मित थे – मैं उसे देखकर भयभीत नहीं हुआ और ऐसा आदमी होकर भी साहस करके वह इतनी दूर तक आकर मुझे स्थान दिखाकर चला गया ! विस्मित होने की बात भी थी। सर्वत्र उसके शत्रु थे और उसके सिर पर – उसे जीवित या मृत अवस्था में सरकार को सौंप देने पर, पाँच हजार रुपयों के नगद पुरस्कार की घोषणा हुई थी।

कोलियों के इस गाँव का नाम है खानपुरा, घोर जंगल तथा पहाड़ों के बीच है। यहाँ के कोलियों की आजीविका का उपाय है चोरी। परन्तु इनमें से अधिकांश ही छोटे चोर हैं – बकरी, भेंड़, गाय, घोड़ा आदि चुराते हैं और उसे बेच डालते हैं। परन्तु उनके पास पैसे नहीं रहते, शराब में ही सब चला जाता है। काले, लम्बे, लाल नेत्र – दुबली-पतली देह।

स्वामी-नारायण सम्प्रदाय

सुबह की भिक्षा मामाजी के साथ ही करने के बाद शाम को जसदन के मार्ग से रवाना होकर संध्या के थोड़ा पहले उस नगर में पहुँचा। यह भी एक काठी राज्य का मुख्य धाम है। नगर की सीमा पर एक घुड़सवार जा रहा था। मुझे देखते ही, ''जय स्वामी-नारायण'' किया। मैंने पूछा, ''शहर के बाहर कोई मन्दिर या धर्मशाला है क्या?'' – ''क्यों, स्वामी-नारायण मन्दिर में नहीं जायेंगे? आप स्वामी-नारायण हैं, साधु नहीं हैं।'' मैंने ज्योंही कहा – ''नहीं, मैं संन्यासी हूँ'', तो वे घोड़ा दौड़ाते हुए चले गये, फिर बात नहीं की।

सहजानन्द या श्रीजी ने स्वामी-नारायण सम्प्रदाय की स्थापना की। कहते हैं वे नारायण के अवतार थे। जसदन के एक प्रसिद्ध दरबार आला-खाचर सहजानन्द के बड़े अनुरागी भक्त थे। उन्होंने काफी सम्पति देकर उनके धर्म-प्रचार की व्यवस्था की थी। इसीलिए जसदन अब भी स्वामी-नारायण-पन्थियों का एक बड़ा प्रमुख केन्द्र है। इन्होंने समान भागवत धर्म – उद्धव के मत का प्रचार किया। इनका कहना था कि कलियुग में ब्राह्मणों को संन्यास का अधिकार नहीं है (वैसे वे स्वयं ब्राह्मण तथा पहले दशनामी ब्रह्मचारी थे और बाद में रामानुजी सम्प्रदाय में काठियावाड़ के प्रसिद्ध ऐतिहासिक रामानन्द के शिष्य के रूप में संन्यासी हुए।) ये शूद्र वर्ण के लोगों को संन्यास और ब्राह्मणों को ब्रह्मचर्य देते थे।

ये लोग बड़े कट्टर होते हैं। इनका उपदेश है – अन्य सम्प्रदाय के साधुओं के साथ बातें मत करो या उन्हें कुछ मत दो, नहीं तो मृत्यु के समय स्वामी-नारायण लेने नहीं आयेंगे। जहाँ बल्लभ सम्प्रदाय में सभी स्त्रियों को श्रीकृष्ण के किसी-न-किसी अंग के अंश या कला का अवतार मानने के कारण, उनके साथ अधिक मेलजोल के दोष से दूषित है, वहीं इनका उस विषय में खूब कड़ा आदेश है – स्त्रियों के साथ बातें करने पर स्नान आदि के द्वारा प्रायश्चित करना पड़ता है। स्पर्श करने पर तो अवश्य ही करना पड़ता है। इसीलिये स्त्रियों को ये लोग दूर रखते हैं। परन्तु महामाया के आकर्षण से मुक्त रहना उनके लिए भी कठिन हुआ और हो

रहा है। सहजानन्द की गद्दी पर आजकल जो हैं, वे सभी पक्के गृहस्थ हैं, परन्तु वे ही गुरु-वरेण्य हैं। सुनने में आता है कि अंग्रेज लोग जब काठियावाड़-गुजरात में आये, उस समय इन लोगों का काफी आधिपत्य था। उन लोगों के प्रयास से (महाराष्ट्र के गवर्नर के साथ शत्रुता होने के कारण) अहमदाबाद तथा नडियाद के तख्त से महाराष्ट्रीय गवर्नर पद-च्युत हुए और ये दोनों नगर अंग्रेजों के अधिकार में आ गये।

ये मूल रूप से सरयूपारीण ब्राह्मण थे। बाद में भाइयों की सन्तानों को लाकर विशाल सम्पत्ति और सम्प्रदाय का स्वामी बना दिया। वर्तमान में ये ही आचार्य हैं। सभी गृहस्थ हैं, पर संन्यासी-ब्रह्मचारियों पर हुक्म चलाते हैं, अत: यह सम्प्रदाय काफी व्यावसायिक तथा धनवान हो गया है। एक उदाहरण देता हूँ – कर्मानुसार फल मिलता है और दान भी कर्म है, इसीलिए मन्दिर में जो जितना पैसा दान करेगा, तदनुसार प्रसाद का तारतम्य होगा। मान लो दो भाई गये। किसी एक ने एक आने और दूसरे ने एक रुपया देकर दर्शन किये। तो पहले को एक आने के फलस्वरूप थोड़े-से मुरमुरे या भुने हुए चने मिलेंगे और दूसरे को एक रुपये के बदले मिठाई या लड्डू मिलेगा। इस प्रकार सारी व्यवस्था बड़ी अद्भुत है।

एक रात एक शिव मन्दिर में रहकर दूसरे दिन वहाँ से केवल छह मील दूर स्थित **घेला सोमनाथ** के लिये रवाना हुआ। कहते हैं कि महमूद ने जब सोमनाथ पर आक्रमण किया, तो ब्राह्मणों ने शिवजी की छुपाई हुई सचल मूर्ति के साथ भागकर यहीं जंगल में आश्रय लिया था। यह उधर **पाण्डवों के** जंगल के नाम से प्रसिद्ध है। केवल पहाड़ तथा जंगल हैं। पर मूर्ति को देखकर वैसा नहीं लगता। वर्तमान मन्दिर जसदन रियासत की सीमा में है और उन्हीं के रुपयों से बना है। लगभग सौ वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध गोसाई ने इसकी स्थापना की थी और उन्हीं के एक वंशज पुजारी हैं।

घेला सोमनाथ में (१९२९ ई.)

घेला (= पागल) सोमनाथ में काफी आनन्दपूर्वक रहा। जंगल सुनकर सोचा था कि खूब निर्जन होगा, पर वैसा नहीं था। काफी यात्रियों के आने-जाने से सारे दिन खूब कोलाहल होता रहता, वैसे रात को शान्ति रहती। आम तौर पर वहाँ तीन दिन ठहराने का नियम है, पर मेरे लिये रियायत थी। दस-बारह दिन रहा, पुजारी ने काफी देखभाल की। करीब दो सौ गायें होने के कारण खूब दूध-दही और रोटला (पाव-पाव भर आटे से बनी मोटी-मोटी बाजरे की रोटियाँ) चाहे जितनी खाओ। वे स्वयं बारह वर्ष से केवल दूध पर ही रहते हैं। उनका सुन्दर लालिमायुक्त शरीर था और सात्त्विक भावों से युक्त थे। दिन के समय भोजन के बाद दूर नदी के किनारे जाकर बबूल की घनी झाड़ियों में बैठ जाता। उधर एक तरह के बबूल के पेड़ होते हैं, जिनके लम्बी पतली डालियाँ ऊपर की ओर चली जाती हैं और फिर झुककर फिर धरती के सहारे टिक जाती हैं। इसके फलस्वरूप वह वृक्ष सार्जेंट की टोपी के आकार के तम्बू जैसा हो जाता है। खूब घना होने के कारण उसके भीतर किसी के रहने पर वह बाहर से दिखता नहीं है। और बाखरी, अहीर आदि खानाबदोश जाति के लोगों का आवास बन जाता है। उसके एक ओर काटकर दरवाजे जैसा बनाकर ये लोग बाल-बच्चों के साथ उसी के भीतर रहते हैं। हिंस्र जन्तु उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते। यह एक तरह का नैसर्गिक तम्बू बन जाता है।

इसी तरह के एक वृक्ष के भीतर शान्त भाव से बैठकर मैं ध्यान आदि किया करता था। एक दिन दोपहर को नदी के किनारे बबूल की झाड़ियों में बैठा था। एक अहीर बकरियों का झुण्ड लेकर पानी पिलाने आया। फिर हाथ-मुँह धोकर पास ही छाया में बैठा। फिर उसने अपने कपड़े से बँधी हुई बाजरे की एक बहुत बड़ी रोटी निकाली। इसके बाद वह एक बकरी को पकड़कर उसके दोनों टाँगों के पीछे से दूध खींच कर बिल्कुल मुख में धार लगाता और फिर रोटी खाता। इस तरह पाँच-छह बकरियों का दूध के साथ उसका रोटी खाना पूरा हुआ। उसे पता नहीं था कि मैं पास ही झाड़ी में बैठकर देख रहा हूँ। उसका खाना देखकर मुझे बड़ी हँसी आ रही थी। उसका शरीर सुन्दर, बलवान और मुख रक्त से परिपूर्ण लालिमा लिये हुए था। सोचा – ये लोग बड़े मजे में हैं। रोटी और दूध – वह भी सीधे थन से मुँह में लेते हैं। अच्छा जीवन है। पहाड़ों-जंगलों में रहना और स्वास्थ्य भी अच्छा है! उपनिषदों में लिखा है कि पहले ऋषिगण गायों के साथ जंगल में रहते थे और ब्रह्म का ध्यान करते थे।

फिर उससे बातचीत करने की इच्छा हुई। मुझे झाड़ी से निकलते देखकर वह हँसने लगा। उत्तर में मैं भी हँसा। मैंने कहा – "एक लोटा क्यों नहीं रखते, फिर एक साथ ही दूध दूह सकते हो।" उसने कहा – "वह भी एक झंझट होगा, कहीं भूल जाऊँगा, तो खो जायेगा। यही ठीक है।" मैं बोला – "बड़े आनन्द में हो, खाते-पीते हो और बकरियाँ चराते हो।" उसने कहा – "दस साल पूर्व तक बड़े आनन्द में थे, साल में एक बार जाकर राजकर के रूप में एक बकरी दे आओ और जहाँ मर्जी, चराओ, लेकिन अब वैसा नहीं है। नये दीवान ने आकर सब चरागाह घोषित कर दिया। जिनके पास पैसा है, वे घास के लिये २-३ हजार तक देकर पहाड़-के-पहाड़ जंगल-के-जंगल घेर लेते हैं। गाय-बकरियाँ लेकर अब हम कहाँ जायें? बाध्य होकर हम लोग जहाँ अच्छी घास नहीं है ऐसे पथरीले या बलुआ जगह में पड़े रहते हैं। बड़े कष्ट में दिन बीत रहे हैं। और अब साल में दो बार राजकर देना पड़ता है – पाँच रुपये और दो बकरियाँ।"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

नारदीय भक्ति-सूत्र (१८)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः संङ्गं त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ।।४६।।

अन्यवयार्थ – **कः तरति** – कौन पार करता है, **मायाम्** – माया-समुद्र को? **यः** – जो, **संङ्गं** – कुसंग को, **त्यजति** – त्याग देता है, **यः** – जो, **महानुभावम्** – महात्माओं की, **सेवते** – सेवा करता है, **निर्ममः** – निरहंकार, **भवति** – होता है।

अर्थ – माया के समुद्र को कौन पार करता है? वही पार करता है, जो कुसंग को त्याग देता है, जो महात्मा-जनों की सेवा करता है और जो अहंकार-भाव त्याग देता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोक-बन्धमुन्मूलयति (यो) निस्त्रैगुण्यो भवति, (यो) योगक्षेमं त्यजति ।।४७।।

अन्यवयार्थ – **यः** – जो, **विविक्त-स्थानम्** – एकान्त स्थान का, **सेवते** – सेवन करता है, **यः** – जो, **लोक-बन्धम्** – जागतिक बन्धनों को, **उन्मूल-यति** – उखाड़ फेंकता है। **निस्त्रैगुण्यः** – त्रिगुणातीत, **भवति** – होता है, **योगक्षेमम्** – सांसारिक चीजों की पाना और उनकी रक्षा, **त्यजति** – त्याग देता है।

अर्थ – जो एकान्त सेवी है, जो सांसारिक बन्धनों को उखाड़कर फेंक देता है, जो तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) के परे हो जाता है, जो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति और उनके संरक्षण का विचार छोड़ देता है।

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ।।४८।।

अन्यवयार्थ – **यः** – जो, **कर्मफलम्** – कर्म के फलों को, **त्यजति** – त्याग देता है, **कर्माणि** – कर्मों को, **संन्यस्यति** – त्याग देता है, **ततः** – तदुपरान्त, **निर्द्वन्द्वः** – द्वैत भाव से मुक्त, **भवति** – हो जाता है।

अर्थ – जो कर्मफलों को त्याग देता है, सभी कर्मों को त्याग देता है, द्वैत से मुक्त हो जाता है। (वही माया-रूपी समुद्र को पार करता है।)

यो वेदानपि संन्यस्यति, केवल-मविच्छिन्नानुरागं लभते ।।४९।।

अन्यवयार्थ – **यः** – जो, **वेदान्-अपि** – वेदों को भी, **संन्यस्यति** – छोड़ देता है, **केवलम्** – केवल, **अविच्छिन्न – अनुरागम्** – निर्बाध अनुराग, **लभते** – प्राप्त करता है।

अर्थ – जो वेदों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों को भी त्याग देता है, केवल वही अविच्छिन्न अनुराग प्राप्त करता है।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ।।५०।।

अन्यवयार्थ – **सः** – वह, **तरति** – पार जाता है, **सः** – वह, **लोकान्** – दूसरों को, **तारयति** – पार करता है।

अर्थ – वह न केवल स्वयं माया-समुद्र से पार जाता है, बल्कि दूसरों को भी पार ले जाता है।

इस माया-समुद्र को कौन पार करता है? मोह-माया से कौन पार जाता है? प्रथमतः वह, जो आसक्ति छोड़ देता है, इन्द्रिय-विषयों के साथ सभी प्रकार का सम्पर्क छोड़ देता है और अपनी सभी कामनाओं-वासनाओं को नियंत्रित करता है।

द्वितीयतः, वह पार करता है, जो किसी ईश्वरानुरागी महात्मा की सेवा करता है। जैसा गीता[1] में कहा गया है – किसी महात्मा की संगति प्राप्त करने का अर्थ है कि व्यक्तिको विनम्र भाव से, जिज्ञासा-वश प्रश्न पूछकर और

१. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया॥ गीता, ४/३४

पिछले पृष्ठ का शेषांश

हाय रे! कहाँ तो मैंने सोचा था कि ये मजे में रहते हैं, पर देख रहा हूँ इस अभागे देश में कोई भी आनन्द से दो जून खा नहीं सकता। तो भी इनका जीवन काफी अच्छा लगा! यदि बाघ और रोग बकरियों का नाश न करें, तो अच्छा ही है। वह बोला – "कमण्डलु दीजिए, थोड़ा दूध दूँ, आप तो मेरी तरह नहीं पी सकेंगे।" मेरी बात नहीं सुनी और करीब सेर भर दूह दिया – ताजा-मीठा दूध। वैसे बकरी के गन्ध को छोड़ दें, तो दूध अच्छा ही लगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

सेवा करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सेवा किसी सन्त-महात्मा की कृपा प्राप्त करने के लिये मन को तैयार करती है। ऐसा नहीं है कि सेवा द्वारा हम उन्हें सन्तुष्ट करते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी कृपा होती है। उनकी कृपा बिना-शर्त होती है, परन्तु हमें उस कृपा को प्राप्त करने के लिये तैयार होना चाहिये। हममें ग्रहणशीलता होनी चाहिये। यदि हम किसी साधु की सेवा करते हैं, तो हम उनके द्वारा सर्वदा प्रकट किये जा रहे महान् विचारों के सत्य की ओर उन्मुख होते हैं। हम उनके प्रति अपनी सेवा के माध्यम से इन महान् विचारों को प्राप्त करने में समर्थ होंगे। अत: सेवा एक महान् आवश्यकता है – स्वयं साधु-महात्मा के लिये नहीं, बल्कि उनके कृपाप्रार्थी व्यक्ति के लिये, क्योंकि उसी सेवा से वह स्वयं को तैयार करता है। ऐसी सेवा के माध्यम से उसका मन उन विचारों के प्रति ग्रहणशील बनता है।

तृतीयत:, वह पार करता है, जो 'मैं' और 'मेरा' का भाव छोड़ देता है। अधिकार भाव छोड़ देना चाहिये। यदि हम अधिकार-भाव से पूर्ण हैं, तो कृपा को हमारे भीतर सक्रिय होने के लिये कोई स्थान नहीं बचेगा, क्योंकि इसे स्वयं में क्रियाशील बनाने के लिये हमें ग्रहणशीलता का यह भाव रखना होगा कि हमें अमुक-अमुक व्यक्ति से कृपा प्राप्त करनी है। यदि हम अधिकार-भाव से पूर्ण हैं, तो मन ग्रहण-शील नहीं रह सकेगा। जब हम कहते हैं कि मेरे पास यह है या मेरा इस पर अधिकार है, तो तुरन्त ही यह इच्छा उत्पन्न हो जाती है कि मैं और अधिक प्राप्त करूँ, मुझे और भी अधिकार तथा चीजें चाहिये। मन पहले से विषयों में लगा है; 'मेरापन' का भाव मन को अन्य चीजों में व्यस्त रखता है, इसीलिये हम महात्माओं की कृपा नहीं प्राप्त कर पाते। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि नीची जमीन में ही पानी एकत्र होता है। पानी यदि ऊँची जमीन पर गिरा तो ठहरता नहीं। "अहंकार से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। अहंकार कैसा है जानते हो? जैसे ऊँची जमीन, वहाँ बरसात का पानी नहीं ठहरता, बह जाता है। नीची जमीन में पानी जमता है और अंकुर उगते है। फिर पेड़ होते हैं और फल लगते हैं।"[२]

अत: दो बातें जरूरी हैं – ग्रहणशीलता का भाव और विनम्रता। हम ईश्वर-कृपा या महात्माओं की कृपा पाना तो चाहते हैं, परन्तु यदि हम 'मैं' और 'मेरा' के भाव से परिपूर्ण हैं, तो हममें ग्रहणशीलता नहीं होगी। यहाँ प्रश्न उठाया गया था कि **माया-समुद्र को कौन पार करता है?** इसका उत्तर निम्नलिखित रूप में दिया जा रहा है –

१. जो इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति छोड़ देता है।

२. जो महात्माओं या भगवद्-भक्तों की सेवा करता है।

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, सं. १९९९, पृ. ६३५

३. जो अधिकार भाव-छोड़ देता है।

४. जो एकान्त और पवित्र स्थान का आश्रय लेता है।

बिना किसी विक्षेप के इस मार्ग का अनुसरण करने के लिये यह पिछला बिन्दु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब हम समाज के कोलाहल के बीच रहते हैं, जब हम संसारी लोगों तथा सांसारिक विषयों पर चर्चा करनेवाले लोगों के बीच रहते हैं, तो मन स्वाभाविक रूप से ही उद्विग्न होता है। अत: सर्वप्रथम एक ऐसे स्थान की जरूरत है, जो ऐसे विक्षेपों से दूर हो। और भी बेहतर होगा, यदि वह स्थान पवित्र हो तथा पवित्र स्मृतियों या संस्पर्श से युक्त हो। ऐसे स्थानों में मन सहज भाव से ईश्वरोन्मुख हो जाता है। अत: ऐसा एकान्त स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

५. जिसने तीनों लोकों के सुखों के बन्धन को त्याग दिया है।

यह संसार तथा दो उच्चतर लोक – इन्हें मिलाकर तीन लोक माना जाता है। अर्थात् मध्यवर्ती आकाश का क्षेत्र और स्वर्ग – देवी-देवताओं का धाम। वहाँ पर लोग स्वर्गिक सुखों का भोग करने हेतु जाने की कामना करते हैं। व्यक्ति को न केवल इस लोक के सुखों का त्याग आवश्यक है, बल्कि उसे स्वर्ग या अन्य उच्चतर लोकों के सुखों को भी त्याग देना चाहिये, जहाँ विविध प्रकार के सुखों का अस्तित्व माना जाता है अर्थात् वे सुख अधिक लम्बी अवधिवाले तथा गुणवत्ता में भी उच्चतर और तीव्रतर होते हैं। वहाँ वे सुख प्रचुर मात्रा में होंगे। उच्चतर लोक सुख-भोग के लोक माने जाते हैं। हमें इन तीनों लोकों के सुखों को मन से निकाल देना होगा। मन सुखों के लिये लालायित रहता है। यह लालसा पूरी तौर पर मिटा देनी होगी। 'पूरी तरह मिटा देना' – यह जान-बूझकर और जोर देकर कहा गया है। इन्हें केवल हटाना ही नहीं, बल्कि पूरी तरह उखाड़ फेंकना है, ताकि ये पुन: नहीं उग सकें। यही मूल आशय है। यदि एक पौधे को काट दिया जाय, तो वह तब तक फिर से उगता रहेगा, जब तक उसकी जड़ें रहेंगी; इसलिये जड़ों को ही उखाड़ फेंकना है। सुखों के विषय हमें कुछ हद कर बाँधते हैं, परन्तु जड़ें ही अधिक बन्धनकारक होती हैं, क्योंकि जब तक जड़ों का मूलोच्छेदन नहीं होगा, तब तक वे पुन: किसी अन्य रूप में उगती रहेंगी।

६. जो त्रिगुणातीत हो गया हो।

सत्व, रजस् और तमस् – ये ही तीन गुण हैं। ये ही संसार की जड़, सृष्टि की जड़ और सबका मूल हैं। माना जाता है कि ये तीनों गुण व्यक्ति को बाँधते हैं।[३] तीनों गुणों

३. सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृति-सम्भवा:।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ गीता-१४-५॥

की मौलिक धारणा यही है। इन तीनों से पार जाना होगा। तमोगुण आलस्य या निष्क्रियता है, रजोगुण क्रियाशीलता है जो हमें सुखों की प्राप्ति के लिये कर्म के लिये निर्दिष्ट करती है। तीसरा सत्वगुण है जो हमें सुखों के विषयों से बाँधता है। सत्त्व हमें सुख से जोड़ता है, अर्थात् सुख प्रदान करता है; रजोगुण से दु:ख और तमोगुण से आलस्य उत्पन्न होते हैं।[४] अत: सभी – तीनों गुणों से पार जाना होगा और तीनों गुणों से अतीत होने वाला व्यक्ति ही माया से पार होता है।

७. जो योगक्षेम अर्थात् सुखप्रद विषयों की प्राप्ति और संरक्षण के समस्त विचारों को त्याग देता है।

तात्पर्य यह कि ऐसी वस्तु को त्याग देनेवाले लोग माया के पार चले जाते हैं। कभी-कभी हमारे पास कुछ वस्तुएँ रहती हैं, जिन्हें हम सुरक्षित रखना चाहते हैं। फिर कुछ ऐसी चीजें भी होती हैं, जो हमारे पास नहीं हैं, पर हम उन्हें अपने पास रखना चाहते हैं। इच्छाएँ इन दोनों में से किसी भी रूप में हो सकती हैं। अपने पास जो वस्तुएँ हैं, हमें उन वस्तुओं की इच्छा नहीं होनी चाहिये और उन वस्तुओं की भी इच्छा नहीं होनी चाहिये, जिन्हें हम अपने पास चाहते हैं, पर इस समय हमारे पास नहीं हैं। इन सबका त्याग करना होगा।

८. जो कर्मों के फलों को त्याग देता है।

जब हम कोई कार्य करते हैं, तो हमें उस कार्य के फल या परिणाम को पाने की इच्छा होती है। एक भगवद्भक्त को सभी कर्मों के फलों का त्याग करना होगा। तात्पर्य यह है कि उसे इस भाव से कोई कर्म नहीं करना चाहिये कि वह उससे लाभ प्राप्त करेगा। कर्म बिना किसी आसक्ति के, बिना किसी स्वार्थपरक विचार के, बिना अपने लिये कुछ पाने के विचार के ही किया जा सकता है। ऐसा कर्म बन्धनकारक नहीं होता; हमें बन्धन में नहीं डालता। जब हम कर्मफल पाने के विचार से कर्म करते हैं, तो वही कर्म हमें मायाबद्ध कर देता है। इसीलिये कर्मफलों का त्याग कर देना होगा।

९. जो सभी कर्मों का त्याग कर देता है।

यहाँ कर्मों का अर्थ है शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्म – इन कर्मों को भी त्याग देना होगा। क्योंकि वे हमें भिन्न पथ पर ले जाते हैं। इस प्रकार हम सुख-दु:ख आदि के द्वन्द्वों से मुक्त होकर माया से परे जा सकते हैं।

१०. जो ईश्वर के प्रति अविच्छिन्न अनुराग रखता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि ईश्वर के प्रति अनुराग को रोकना या धीमा नहीं करना है, अपितु इसे और भी प्रबल करना होगा। ईश्वरानुभूति या भगवद्-भक्ति के लिये एक निरन्तर ज्वलन्त व्याकुलता होनी चाहिये। यह व्याकुलता दीपक की लौ के समान सतत प्रज्वलित या एक पात्र से दूसरे पात्र में ढाले जानेवाली तेलधारा के समान अविच्छिन्न होनी चाहिये। मन जब इस प्रकार अविच्छिन्न या निर्बाध रूप से ईश्वर का चिन्तन करता रहता है, तो वह मन ईश्वरानुभूति के उपयुक्त हो जाता है। ईश्वरानुभूति के साधन यहाँ इसी प्रकार बताये गये हैं। ये सरल तथा सहज वर्णन हैं, पर बड़े प्रभावशाली हैं। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं कही गई है, जिसे हम समझ न सकें या जिसके अभ्यास का प्रयत्न न कर सकें।

यहाँ कहा जा सकता है कि ईश्वर के लिये अविच्छिन्न व्याकुलता के प्रवाह को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ठीक है कि इसे तत्काल नहीं प्राप्त किया जा सकता, परन्तु उसे बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिये। हमें उस अविच्छिन्न ईश्वर-स्मरण या अविच्छिन्न भगवद्-भक्ति को प्राप्त करने हेतु कठोर प्रयास करना होगा। केवल तभी हम ईश्वर की अनुभूति करने में सक्षम होंगे। इस सक्षमता का अर्थ है कि केवल तभी हम भगवत्कृपा के पात्र होंगे। हमारे ऊपर भगवत्कृपा तो होती है, हमें केवल उसे ग्रहण करने में सक्षम होना है। यदि हम स्वयं को तैयार करें, तो उस कृपा को पाने में समर्थ होंगे। अन्यथा यह कृपा हमें लाभान्वित किये बिना ही व्यर्थ चली जायेगी। भगवत्कृपा को भी हमारे भीतर फलदायी होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ईश्वर एक संसारी व्यक्ति को एक सन्त में परिणत कर सकते हैं – इसमें कोई सन्देह नहीं है। तो भी, उस लक्ष्य को पाने के लिये हमें जो कुछ करना है, यहाँ उसी का वर्णन किया गया है। यद्यपि यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि इन प्रयत्नों के द्वारा हमें ईश्वरानुभूति प्राप्त हो ही जाय, परन्तु इसमें कृपा ही मूलभूत तत्त्व है। यह हमारे रूपान्तरण में मुख्य तत्त्व है।

यहाँ साधन भी बताये गये हैं, ताकि इन साधनों द्वारा हम अपने को कृपा पाने में सक्षम बना सकें। ये साधन बड़े सरल और युक्तिपूर्ण हैं। हम इनकी हर बात को समझ सकते हैं। इसमें कोई विशिष्ट दार्शनिक शब्दावली नहीं है। हम बिना अधिक विद्वत्ता के ही इसमें कही गई बातों के हर शब्द को समझ सकते हैं। इसके बाद अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ इसका अभ्यास करना हमारे ऊपर निर्भर करता है। यदि हम प्रयत्न करें, यदि हम अभ्यास करें, तो हमारे लिये यह आशा विद्यमान है कि भगवत्कृपा से हम सफल होंगे। हम इन सभी चीजों को भगवत् कृपा से प्राप्त करते हैं, परन्तु हमें पर्याप्त सक्षम होना है – हमें स्वयं उस कृपा को प्राप्त करने में समर्थ होना चाहिये। उस कृपा को प्राप्त करने के लिये ये अभ्यास बताये गये हैं।

५०वें सूत्र में इस प्रकरण की चर्चा का उपसंहार करने के लिये 'स: तरति' उक्ति की पुनरावृत्ति की गई है।

❖ (क्रमश:) ❖

४. गीता, १४/९

मृत्यु क्या है?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

श्रीमद्-भगवद्-गीता में दूसरे अध्याय के २२ वें श्लोक में मृत्यु का वर्णन करते हुए कहा गया है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि-
अन्यानि संयाति नवानि देही ।।

- अर्थात् 'जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाती है।'

इस श्लोक के अनुसार मृत्यु का अर्थ हुआ एक शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेना। तात्पर्य यह कि मृत्यु के साथ मनुष्य का सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि मृत्यु एक नये जीवन में पदार्पण करने का सोपान है। वह दो जीवनों के बीच की अवस्था है, जिसमें से गुजरते हुए जीव नवीन शक्ति और उत्साह प्राप्त करता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि किसी का वध करके यह दलील दी जाय कि मारा गया व्यक्ति मृत्यु के द्वारा नवीन उत्साह प्राप्त करेगा। यह तर्क की तौहीनी होगी। यहाँ तात्पर्य मात्र इतना है कि मनुष्य की स्वाभाविक मृत्यु एक गाढ़ी नींद के समान है, जिसमें से गुजरकर मनुष्य तरोताजा अनुभव करता है।

गीता में मृत्यु की प्रक्रिया का संकेत देते हुए कहा गया है कि जीव का इस पंचभौतिक शरीर से निकल जाना ही मृत्यु है। जीव के तीन शरीर माने गये हैं – १. स्थूल शरीर जो दिखाई देता है, २. सूक्ष्म शरीर जो तन्मात्राओं से, प्राण तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शक्तियों से बना है, और ३. कारण शरीर, जो संचित वासनात्मक संस्कारों का कोश है। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर एक साथ बने रहते हैं, और दोनों मिलकर मनोयंत्र कहलाते हैं। स्थूल शरीर को देहयंत्र भी कहा जाता है। इन शरीरों के भीतर आत्मा ओत-प्रोत होकर विद्यमान है, जो हमारे भीतर का चैतन्य तत्त्व है। देहयंत्र और मनोयंत्र दोनों ही जड़, अचेतन हैं, पर दोनों के जड़त्व में एक अन्तर है। देहयंत्र स्थूल जड़ कहलाता है और मनोयंत्र सूक्ष्म जड़ कहलाता है। यह अन्तर इसलिए है कि देहयंत्र आत्मचैतन्य को प्रतिफलित नहीं कर पाता, जबकि मनोयंत्र इस आत्मचैतन्य को प्रतिफलित करता है और इस प्रकार अचेतन होता हुआ भी चैतन्यवान-सा प्रतीत होता है। जब हम आत्मचैतन्य को मनोयंत्र के साथ युक्त करके देखते हैं, तो उसे 'जीव' कहते हैं।

अब विचार करें कि मृत्यु क्या है? जब जीव यानी मनोयंत्र देहयंत्र को छोड़कर निकल जाता है, तो उसे मृत्यु कहते हैं। शरीर निर्जीव होकर पड़ा रहता है। तो क्या आत्मा शरीर को छोड़कर निकल गया? नहीं, आत्मा तो सर्वव्यापी है, अतः वह मुर्दे में भी विद्यमान है। तब यह जीव क्या है, जिसके शरीर को छोड़कर निकल जाने से शरीर मुर्दा बन जाता है। यह जीव है मनोयंत्र, जो आत्मा के चैतन्य को प्रतिफलित कर चेतन मालूम पड़ता है।

आत्मा का धर्म है चैतन्य और प्राणवत्ता, जैसे अग्नि का धर्म है ताप। पर आत्मा का यह धर्म मनोयंत्र के माध्यम से ही प्रकट होता है। जैसे विद्युत का एक धर्म है प्रकाश, पर यह धर्म तभी प्रकट होता है, जब उसे बल्ब आदि का माध्यम प्राप्त होता है। जहाँ भी और जिसमें भी इस मनोयंत्र की क्रिया होती है, वहाँ और उसमें आत्मा के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण हम उसे 'जीवन' या 'प्राणयुक्त' या 'चेतन' कहकर पुकारते हैं। और जहाँ मन की क्रिया नहीं है, उसमें आत्मा का चैतन्य भी प्रकट नहीं होता, इसीलिए हम उसे 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर सम्बोधित करते हैं।

इसके द्वारा अब मृत्यु की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। यह शरीर तब तक जीवित रहता है, जब तक उसके भीतर यह मन, यह अन्तःकरण, यह सूक्ष्म शरीर – या यों कहें, यह मनोयंत्र विद्यमान है, क्योंकि उसी के माध्यम से शरीर में आत्मचैतन्य का प्रतिफलन होता है। जब यह मनोयंत्र इस स्थूल शरीर से अपनी क्रिया समेटकर बाहर निकल जाता है, तब इसके अभाव में आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्बित होना बन्द हो जाता है, यानी आत्मा का चैतन्य-धर्म स्वयं को प्रकट करने वाले यंत्र के अभाव में पुनः प्रच्छन्न या आवृत हो जाता है। जैसे बल्ब के भीतर फिलामेंट के टूटने पर, विद्युत के रहते हुए भी उसका प्रकाश-धर्म प्रच्छन्न हो जाता है, वैसे ही। ऐसी दशा में, आत्मा के होते हुए भी यह शरीर 'निर्जीव' 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर घोषित होता है और यही मृत्यु की दशा है। ❑

ईशावास्योपनिषद् (१६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

इस समस्त ब्रह्माण्ड के सृजन के कारण हम ही हैं और हमारा अस्तित्व स्वयंभू है। माता-पिता ने हमारी देह को जन्म दिया है, किन्तु हमारी आत्मा स्वयंभू है। देह अनित्य, नश्वर है, किन्तु देह के भीतर जो देही है, उसका कभी विनाश नहीं होगा और हम वही देही हैं। इसलिए कहते हैं शुक्रं – हम स्वयं प्रकाशमान हैं। हर शास्त्र में आप पढ़ेंगे कि आत्मा को ज्योतिर्मय कहा गया है। ऐसी दिव्य ज्योति हमारे अन्त:करण में विद्यमान है। उस ज्योति के कारण यह सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है। हमारी इंद्रियाँ उसी ज्योति के कारण इंद्रियों के विषयों को प्रकाशित कर रही हैं। इसलिए वह शुक्रं – ज्योतिर्मय है। जहाँ अन्धकार है, वहाँ अज्ञान है, और जहाँ अज्ञान है वहाँ अन्धकार है। किन्तु यह आत्मा सर्वव्यापी है। यह 'पर्यगात्' – परि-अगात्, – सभी जगह गया हुआ है। सभी स्थानों में, जहाँ-जहाँ हमारी इंद्रियाँ, मन बुद्धि जाती हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र ही आत्मा अवस्थित है। उसके बाद भी 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' – जहाँ से वाणी लौट आती है, जो मन के द्वारा भी अप्राप्त है, वहाँ भी आत्मा विद्यमान है।

अभी तक विज्ञान ने जो बातें बतायी हैं, वे अवान्तर हैं। न्यूटन का जो physics था, उसमें उर्जा और पदार्थ – matter and energy ये दो तत्त्व अलग-अलग माने गये थे, किन्तु आज के physics में पदार्थ और ऊर्जा का अन्तर समाप्त हो गया। आज के वैज्ञानिक कहते हैं, जो पदार्थ तुम्हें दिख रहा है वह ऊर्जा है तथा उससे भिन्न कुछ नहीं है। ऊर्जा पदार्थ में परिवर्तित होती है, और पदार्थ ऊर्जा में परिवर्तित हो सकता है और इसी ज्ञान ने उनको अणु बम की शक्ति दी। हिरोशिमा और नागासाकी में बम डालकर लाखों लोगों को मार डाला गया। क्या किया, कैसे किया? यह बात समझ में आ गयी कि पदार्थ को ऊर्जा बनाया जा सकता है। पदार्थ का विखंडन किया तो अणु बचा और उसका भी विखडंन किया गया तो ऊर्जा बन गयी। पदार्थ और ऊर्जा का भेद मिट गया। अब हमारे सामने प्रश्न है, चैतन्य और ऊर्जा का। यह जो चैतन्य है, उसे कभी नहीं बनाया जा सकता। आज के वैज्ञानिक कहते हैं, आज की सृष्टि का कारण यही उर्जा है। वेदान्त कहता है, कि इस उर्जा का भी कारण है, जिसे हम चैतन्य, आत्मा कहते हैं।

जब हम सोचते हैं कि हमारे भीतर प्रकाशवान चैतन्य है और उसका ध्यान करते हैं, तब किसी विरले साधक को इस ज्योति का अनुभव होता है। अगर रूपात्मक ज्योति है, तो वह प्रारम्भ मात्र है, क्योंकि वह चैतन्य सत्ता अकाय है। उस परमात्मा का स्थूल-सूक्ष्म कोई भी शरीर नहीं होता है। 'अकाय' होने के कारण वह 'अव्रणं' है। वह 'शुद्धम्' – सब प्रकार के मल से रहित मूलरूप में शुद्ध एक तत्त्व है। शुद्ध सोना इसका अच्छा उदाहरण है। ऐसा ही वह आत्म तत्त्व है, जो सब प्रकार के मलों से रहित निर्दोष है। नामरूपात्मक कोई भी दोष उसमें नहीं है। ऐसा तत्त्व 'अपापविद्धम्' है – वह पाप और पुण्य से ऊपर है। वह परमात्मा तेजोमय है। शरीर से रहित, व्रण से रहित है। वह शुद्ध है, निष्पाप है। वह सर्वत्र व्याप्त है, वह कवि – क्रान्तदर्शी है, सर्वद्रष्टा है। वह सब कुछ जानने वाला है। ऐसा सर्व नियंता वह स्वयंभू है। अनादि काल से वह प्रत्येक प्राणी के कर्मानुसार या प्रकृति के नियमानुसार इन समस्त विश्व ब्रह्माण्डों का संचालन कर रहा है।

इस मंत्र में जो बातें हमें बतायी गयी हैं, यदि हम उस पर चिन्तन-मनन करेंगे, तो इससे हमारे जीवन में परिवर्तन आयेगा। हमारी चेतना में परिवर्तन होगा। तब ये मंत्र नि:सन्देह प्रत्यक्ष हो जायेंगे। तब निदिध्यासन होगा। इसका तात्पर्य है कि हमें उस तत्त्व पर ध्यान करना है, जिसका हमें श्रवण-मनन के द्वारा ज्ञान हुआ है। ज्ञानयोग की जो परंपरा है, वह श्रवण, मनन और निदिध्यासन की है। हम दिनभर सुनते हैं, किन्तु मनन नहीं करते। मनन हम उस विषय का करते हैं जिससे हमें कुछ लाभ की आशा हो, जिससे कुछ प्राप्ति की आशा हो। बहुत बार यह प्रश्न आता है कि भय से भी हम मनन करते हैं। किन्तु हम भय से मनन नहीं करते, हम तो यह सोचते हैं कि भय से कैसे बचा जाय? कंस के मन में कृष्ण के प्रति भय तो व्याप्त था, किन्तु वह कृष्ण का चिंतन या मनन नहीं करता था। वह तो भय से उनका स्मरण करता था। दूसरी ओर उद्धव, संजय, अर्जुन आदि भक्त-गण भगवान के उपदेशों का मनन करते थे।

इसी प्रकार उपनिषद में जो मंत्र हैं, उनको हमने पढ़ा या सुना, किन्तु उसके पश्चात् अब हमें उनका मनन करना चाहिए। इससे हम इस मंत्र के अर्थ को जान सकेंगे, आत्मसात् कर सकेंगे और संशयरहित हो सकेंगें। जब हम

नि:सन्देह हो जायेंगे, तब मनन के परिणाम स्वरूप जो तत्त्व हमें प्राप्त हुआ है, जिसकी धारणा हमें हो गयी है, उसका हम निदिध्यासन – ध्यान करेंगे। यदि अभ्यास के द्वारा तथा गुरुकृपा से हम तीव्रता से तैलधारावत् ध्यान कर सकेंगे, तो उस तत्त्व की हमें अनुभूति हो जायेगी और जीवन धन्य हो जायेगा। मानव-जीवन का यही प्रयोजन है।

किसी भी वस्तु का स्वभाव क्या है? जैसे चीनी या गुड़ की मिठास इसका स्वभाव है। यदि उसमें दूसरा कुछ कड़वा मिल जाय, तो चीनी का जो स्वभाव नहीं है, वह कड़वापन उसमें आ जायेगा। स्वभाव में हम स्थायी रूप से रह जाते हैं, किन्तु परभाव में अधिक समय तक नहीं रह सकते। पर भाव का अनुभव हमें प्राय: रहता है। जैसे क्रोध है। यह पर भाव है। क्रोध में कोई भी व्यक्ति २४ घंटे नहीं रह सकता। चिकित्सा विज्ञान यह बताता है कि कोई व्यक्ति अगर बहुत लबे समय तक क्रोध में रहे तो उसकी मृत्यु हो सकती है। उसके शरीर में क्रोध के कारण जो विष-क्षरण होता है, उसके कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। यह परभाव है।

क्षमा हमारा स्वभाव है। हम जीवनभर क्षमा के भाव में रह सकते हैं। किसी व्यक्ति ने आपको दु:ख दिया तो आप उसे क्षमा कर दते हैं। जब आपने क्षमा कर दिया, तो आप अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो गये। इस प्रकार आप जीवनभर उस स्वभाव में रह सकते हैं। पर, यदि प्रतिशोध की भावना आ जाय, तो व्यक्ति उसमें जलता रहेगा और कष्ट पायेगा। इसलिये जो हमारा स्वभाव है, उसमें हमें प्रतिष्ठित होना है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, अपने दिव्य स्वभाव का अनुसरण करो। तुम्हारा जो दिव्य स्वभाव है उसके अनुसार जीवन यापन करो। अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित रहो। हमारे ऋषि हमें बताते हैं कि हमारा स्वभाव क्या है। हमारा स्वभाव ज्योतिपूर्ण है। अभी हम अज्ञान के अंधकार में हैं, आँख बन्द करने पर हमें भीतर अंधकार ही दिखता है, किन्तु जो साधक साधना में लगे हैं, जिन्होंने मन को शुद्ध करने का प्रयास किया है और मनन के द्वारा तत्त्व के अर्थ को समझ लिया है, उस आत्मा पर निदिध्यासन कर रहे हैं। उनके जीवन में कभी-कभी उस आत्म-ज्योति की झलक दिखती है।

इस मन्त्र में जो ग्यारह लक्षण बताये गये हैं, वे हमारे स्वरूप आत्मा के लक्षण हैं। हमें उन पर चिन्तन-मनन करना होगा। हमें बाहर से कुछ भी नहीं लाना है, केवल जो परभाव बाहर से आ गया है, उसको छोड़ना है और अपने स्वभाव आत्मा में प्रतिष्ठित होना है। स्वभाव कहीं से लाना नहीं पड़ता, क्योंकि वह तो हमारी प्रकृति ही है, हमारे में स्वयं प्रतिष्ठित है। हमारा स्वभाव सोने जैसा शुद्ध निर्दोष है। खुदाई करने के बाद जो सोना मिलता है। उसे अग्नि में तप्त करके शुद्ध सोना निकालते है। उसमें नयी कोई वस्तु नहीं डाली जाती, जो मिलावट उसमें होती है, केवल उसे ही दूर किया जाता है। वस्तुत: जो सोना था, अशुद्धि के कारण उसमें दोष दिख रहा था, तपाने पर वह शुद्ध रूप में प्रगट हो जाता है। जब हम साधना करेंगे तो कोई नयी वस्तु हमें नहीं मिलनेवाली, क्योंकि जो संयोगजन्य है, कभी-न-कभी उसका वियोग अवश्य होगा। जब वियोग होगा, तो वह नष्ट हो जायेगा, खंडित हो जायेगा। हमारा स्वभाव – आत्मा, ईश्वर या परमात्मा यह संयोगिक नहीं है। यह किन्हीं तत्त्वों से मिलकर नहीं बना है, यह मौलिक है। हमारा मूल स्वभाव शुद्ध और पवित्र है। इसमें अपवित्रता या मिलावट नहीं है।

अब यहाँ एक व्यावहारिक प्रश्न आता है कि उपनिषद कहता है, तुम शुद्ध हो, निर्दोष हो, किन्तु जब हम अन्दर देखते हैं, तो अनेक दोष दिखाई देते हैं, अपूर्णता दीख पड़ती है। काम, क्रोध, लोभ मद, मत्सर और अनेक प्रकार के दोष हमें दिख पड़ते हैं। स्मरण रहे कि ये दोष परभाव हैं, बाहर से लाये हुए हैं, अध्यारोपित हैं, अत: ये स्थायी नहीं रहेंगे, क्योंकि ये हमारा स्वभाव नहीं हैं। ये संयोगजन्य हैं और दूर किये जा सकते हैं। अत: परभाव से डरने की जरूरत नहीं है, केवल सावधान होने की जरूरत है।

कई बार सन्देह होता है कि यदि यह दूध और पानी की तरह मिला दिया गया हो, तो इसे कैसे अलग किया जा सकता है? इसके लिए हमें कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। दूध और पानी जब मिल जाते हैं, तब उसको अग्नि में तपाना पड़ता है। पानी भाप बनकर निकल जाता है और दूध-खोवा हमारे पास रह जाता है। यदि उसका दही बना कर मथ लें, तो उसका सार मक्खन रह जायेगा और पानी अलग हो जायेगा। इसलिए जो दोष हमारे जीवन में दिख रहे हैं, अशुद्धियाँ दिख रही हैं, इन्हें परभाव मानकर स्वीकार नहीं करना चाहिए। साधना की यही प्रक्रिया है।

हमें सदा ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि मैं शुद्ध हूँ और अपने दोषों को दूर करने में मैं पूर्ण समर्थ हूँ। गीता में ब्रह्म की परिभाषा दी गयी है – 'निर्दोषं हि समंब्रह्म' – जिसमें कोई दोष न हो और जिसमें दोष नहीं होगा, वह सदैव सम होगा, Homogenious होगा। पूर्ण समता एवं निर्दोषता एक ही बात है। यद्यपि हमारे भीतर पूर्ण समता है, तथापि उसकी हमें अनुभूति नहीं है। पर वस्तुत: हमारा स्वभाव समत्व ही है। किसी भी परिस्थिति में उसमें विषमता नहीं आती। विषमता अर्थात् सुख में उल्लसित होना और दु:ख से पीड़ित होना यह विषमता है। किन्तु यह विषमता बाहर से आयी हुई है, और यदि हम इसे अलग कर दें, निन्दा से होनेवाले दु:ख और प्रशंसा से होनेवाले सुख के प्रति उदासीन हो जायँ, उसकी उपेक्षा करके साक्षी हो जायँ, तो हम इस विषमता से मुक्त जायेंगे। ❖ **(क्रमश:)** ❖

बॉस्टन में धनाभाव (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुनः खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

बॉस्टन में छबीलदास के साथ

मुम्बई से अक्षय कुमार घोष ने स्वामीजी के अमेरिका में सहयात्री सेठ छबीलदास से सुनकर ६-१०-१८९३ को खेतड़ी के मुंशी जगमोहन लाल के नाम अपने पूर्वोद्धृत पत्र में लिखा था – "बॉस्टन के पास के एक स्थान में गुरुजी और छबीलदास एक होटल में निवास कर रहे थे। वहाँ एक रात स्वामीजी को परम शुद्धतावादी तथा पृथ्वी पर अपने तरह की एक सबसे सबल समिति 'लेडीज टेम्परेंस लीग' से एक टेलीग्राम मिला, जिसमें उन्हें कुछ समय के लिये उनका आतिथ्य ग्रहण करने को आमंत्रित किया गया था। उन्होंने उत्तर दिया कि वे तीन दिनों बाद उन लोगों से मिलने आ रहे हैं, परन्तु अगले दिन सुबह 'लीग' की अध्यक्षा मिस विलर्ड स्वयं ही आ पहुँचीं और अपने सम्माननीय अतिथि के रूप में उन्हें बॉस्टन ले गयीं। यहीं पर छबीलदास से उनका विलगाव हो गया। विदा लेते समय छबीलदास ने उनसे पूछा कि उनके पास कुल कितनी रकम हैं। पता चला कि स्वामीजी के पास केवल १०० पौंड ही हैं। श्री छबीलदास की दृष्टि में अमेरिका में ३ या ४ महीने ठहरने के लिये काफी कम थी, क्योंकि वह देश इंग्लैंड की तुलना में पाँचगुना महँगा है। स्वामीजी का विचार था कि यदि सम्भव हुआ तो वे यूरोप में जाकर उससे भी अधिक समय – लगभग एक वर्ष उस महाद्वीप में बितायेंगे। परन्तु बॉस्टन में उनसे अनुरोध किया कि जब कभी उन्हें आर्थिक सहायता की जरूरत हो, तो वे उनके लंदन कार्यालय को तार भेज दें और लौटते समय उन्होंने स्वयं ही अपने लंदन-प्रतिनिधि को उसे पूरा करने की हिदायत दी थी। न्यूयार्क से छबीलदास ने उन्हें दो बार तार भेजा, परन्तु उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। (तब तक वे बॉस्टन से ब्रिजी मिडोज जा चुके थे)। उसके बाद लंदन से फिर गुरुजी से पूछा गया कि क्या वे वहाँ आकर उनके साथ भारत लौटना चाहेंगे। उनका उत्तर आया – 'मेरी प्रतीक्षा मत कीजिये। मैं काफी बाद में लौटूँगा।' "[१]

१२ अगस्त तक स्वामीजी शिकागो में थे, इसके बाद १३ अगस्त को स्वामीजी तथा छबीलदास बॉस्टन नगर में पहुँचकर वहाँ ब्रैटल स्ट्रीट पर स्थित क्विन्सी हाउस नामक होटल में ठहरे थे।[२] इस होटल का उल्लेख केट सेनबार्न के संस्मरणों में भी मिलता है। वहाँ सम्भवतः दो दिन बाद छबीलदास न्यूयार्क तथा इंग्लैंड की ओर चल दिये। अमेरिकी महाद्वीप में पाँव रखने के बाद स्वामीजी ने पहली बार अपने को पूर्णतः एकाकी महसूस किया। वहाँ उन्हें दो प्रकार की समस्याएँ झेलनी पड़ीं – एक तो वे अपने साथ जो धनराशि लेकर आये थे, वह भारत की दृष्टि से तो पर्याप्त था, परन्तु अमेरिका में हर चीज १०-२० गुनी महँगी थी, अतः उनकी जमा-पूँजी शीघ्रतापूर्वक समाप्त हो रही थी। वहाँ भिक्षा की प्रथा न होने के कारण भूखमरी की नौबत आ रही थी। वहाँ दूसरी समस्या थी – उनकी असामान्य वेशभूषा को देखकर वहाँ की आम जनता का दुर्व्यवहार।

इस घटना का उल्लेख उन्होंने कुछ दिन बाद लिखे पत्र में किया है। परवर्ती काल में एक बार कोई व्यक्ति स्वामीजी के समक्ष अमेरिकी सभ्यता की बड़ी प्रशंसा कर रहा था, इस पर स्वामीजी ने कटाक्षपूर्वक ने बॉस्टन में हुई इस घटना का वर्णन करते हुए कहा था – "हाँ, बॉस्टन एक बड़ी सभ्य जगह है। एक अज्ञात देश में एक अज्ञात आदमी के रूप में एक बार मैं वहाँ जा पहुँचा था। मेरा कोट ऐसा ही लाल रंग का था और मैंने एक पगड़ी पहन रखी थी। मैं नगर के एक व्यस्त इलाके से होकर सड़क पर चल रहा था, तभी मुझे बोध हुआ कि बहुत-से पुरुष तथा लड़के मेरा पीछा कर रहे हैं। मेरे द्वारा अपनी चाल बढ़ाने पर उन लोगों ने भी वैसा ही किया। तभी मेरे कन्धे पर किसी चीज से प्रहार किया गया और मैं दौड़ने लगा। एक कोने पर पहुँचकर मैं एक अँधेरी गली में घुस गया और पूरी भीड़ मेरा पीछा करती हुई आगे

१. खेतड़ी पेपर्स १९९९

2. A bird's-eye view : Vivekananda and his Swamis in Boston and Vicinity, Boston, Ed. 1992, p. 14

चली गयी। मैं सुरक्षित बच गया!'' निष्कर्ष के रूप में वे बोले – ''हाँ, मेसाचुसेट्स एक बड़ा सभ्य स्थान है !''[३]

वहाँ के अर्थाभाव के बारे में उन्होंने अपने २० अगस्त के पत्र में लिखा है – ''यहाँ बहुत खर्च होता है। तुम्हें याद होगा कि तुमने मुझे १७० पौण्ड के नोट और ९ पौण्ड नगद (लगभग २६८५ रुपये) दिये थे। उसमें से अब केवल १३० पौण्ड (करीब १९५० रुपये) ही बच गये हैं। प्रतिदिन औसतन मेरा एक पौण्ड खर्च होता है। यहाँ एक चुरुट की ही कीमत हमारे यहाँ के आठ आने हैं। अमेरिकावाले इतने धनी हैं कि वे पानी के जैसे रुपये बहाते हैं और इन्होंने कानून बनाकर सभी चीजों का दाम इतना अधिक रखा है कि दुनिया की अन्य कोई जाति यहाँ किसी तरह पाँव नहीं रख पाती। साधारण कुली भी औसतन हर रोज ९-१० रुपये कमाता और उतना ही खर्च करता है। यहाँ आने के पूर्व मैं जो सोने के स्वप्न देखा करता था, वे अब टूट गये हैं। अब मुझे असम्भव अवस्थाओं से लड़ाई करनी पड़ती है। सैकड़ों बार इच्छा हुई कि इस देश से चल दूँ, फिर मैंने सोचा कि मैं तो जिद्दी स्वभाव का हूँ और मुझे प्रभु का आदेश मिला है। मेरी दृष्टि में रास्ता नहीं दिखायी देता, तो न सही, परन्तु उनकी आँखें तो सब कुछ देख रही हैं। चाहे मरूँ या जीऊँ, मैं अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ूँगा।''[४]

वे किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर अपने आगामी कर्तव्य के बारे में सोच रहे थे, तभी उन्हें शिकागो आते समय ट्रेन में मिली महिला पत्रकार केट सेनबॉर्नी की याद आयी। वह बॉस्टन के पास के एक गाँव – ब्रिजी मिडोज के कृषि-फार्म में निवास करती थीं, जो बॉस्टन नगर से लगभग २५ मील दूर स्थित मेटकॉफ नामक कस्बे के पास था। दो-तीन दिन बॉस्टन के उस होटल में रहने के बाद स्वामीजी ने उक्त महिला को एक टेलीग्राम भेजा। और १७ या १८ अगस्त को ब्रिजी मिडोज के लिये प्रस्थान कर गये।

केट सेनबार्न के संस्मरणों में लिखा है – ''मैं बीमारी भोगकर थोड़ी स्वस्थ हो रही थी कि मुझे ४५ शब्दों का एक टेलीग्राम मिला जिसमें सूचित किया गया था कि आब्जर्वेशन ट्रेन में मिले सम्माननीय अतिथि बॉस्टन के क्विन्सी हाउस में ठहरे हुए मेरी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

''तब मुझे स्पष्ट रूप से स्मरण हो आया कि मैंने उनसे अनुरोध किया था कि यदि कभी वे एकाकी महसूस करें या सहायता की जरूरत पड़े, तो मेरा आतिथ्य ग्रहण करें। मैंने उनसे वादा किया था कि मैं उनका लेखन तथा चर्चा की प्रतिभा से सम्पन्न हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों, कांकार्ड के दर्शन-शास्त्रियों, न्यूयार्क के धनवानों; और प्रसिद्ध, सम्पन्न तथा उच्च समाज की महिलाओं से परिचय करवा दूँगी। परन्तु अगस्त का मध्य भाग चल रहा था और नगर में ऐसी कोई भी शख्सियत विद्यमान न थी, जिनके साथ मैं अपने इन रंग-बिरंगी पोशाक से सज्जित विद्वान् संन्यासी को मिलवाती। मैं बड़ी दुविधा में पड़ी, तो भी मैंने साहसपूर्वक एक तार भेज दिया – 'आपका तार मिला। बॉस्टन से अल्बानी के लिये ४.२० पर छूटनेवाली ट्रेन से आज ही आ जाइये।'

''गाड़ी जब प्लेटफार्म पर आयी, तो कर्णभेदी सीटी की आवाज में भी मानो उपहास का सुर था। मैं यह सोचकर भयभीत थी कि ट्रेन पकड़ने के लिये एकत्र लोगों की भीड़ पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा। परन्तु लोगों ने रुद्ध श्वास के साथ चुपचाप उन्हें देखा। वे ऐसे ही विस्मयकर व्यक्ति थे!

''(आगे चलकर शिकागो में) सभी देशों से आकर एकत्र हुए लोगों के बीच यदि वे राजोपम परन्तु विचित्र प्रतीत हुए थे, तो आज गूजविले स्टेशन पर वे अति अद्भुत प्रतीत हुए थे। उनके साथ इतना अधिक सामान था कि ट्रेन अगले स्टेशन पर १० मिनट देर से पहुँची। वे अपने साथ मानो एक बोड्लियन ग्रन्थालय* ही ले आये थे, जो जटिल तथा दुर्लभ थीं और दोनों ही दृष्टियों से वजनी थीं।**

''इस बार उनकी पीली पगड़ी और भी अधिक चमकीली दीख रही थी। और उनके लाल लबादे के साथ गहरे लाल-गुलाबी रंग का कमरबन्द मेल नहीं खा रहा था। लगता था कि वे उस स्थान (ब्रीजी मिडोज) की सहजता तथा शान्ति को देखकर कुछ-कुछ विस्मित हुए हैं, परन्तु भद्रता के चलते वे इस विषय में कुछ बोले नहीं।

''मुझे स्पष्ट दिखता था कि लोग उन्हें घूरकर देखते हैं और कटाक्षपूर्वक मुस्कुराते हैं, पर वे उस ओर जरा भी ध्यान नहीं देते थे। इस विषय में वे मुझसे बोले – 'तो क्या मैं अपने पूर्वजों की पोशाक को त्याग दूँ?'' और मेरे समक्ष एक समुचित प्रश्न भी रखा – 'यदि तुम कभी भारत जाओ, तो क्या तुम हमारी महिलाओं की भाँति साड़ी पहनोगी?' वस्तुत: अपनी अशिष्टता तथा अज्ञान के कारण ही हम सोच लेते हैं कि हमारी अपनी परम्परा से भिन्न हर चीज विचित्र, हास्यास्पद तथा गलत है। रोज टेरी कुक ने मुझे बताया कि पहले वह जिस कस्बे में रहती थी, वहाँ के लोग प्रत्येक अपरिचित को 'विदेशी' कहा करते थे; और जिस लहजे में उस शब्द का प्रयोग होता था, उससे द्वेष तथा असम्मान का भाव व्यक्त होता था। वैसा ही मेरे इस 'विदेशी' के साथ भी हुआ।

3. Reminiscences of Swami Vivekananda, 3rd Ed., p. 263-64
४. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड १, पृ. ४००

* इंग्लैंड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का सुप्रसिद्ध ग्रन्थालय
** मुम्बई में मुंशी जगमोहनलाल ने सम्भवत: स्वामीजी के लिये बहुत-सी पुस्तकें भी खरीदकर उनके साथ भेज दी थीं, ताकि वे सुदीर्घ यात्रा के दौरान तथा अमेरिका में भी उनका अध्ययन कर सकें।

"पर अगली सुबह तो अवस्था चरम बिन्दु पर जा पहुँची। उस समय वे बरामदे में आसीन अपने गहनतम ध्यान में डूबे हुए थे, या यों कहें कि अपने क्रियाशील मन से सारे विचारों को निकालते हुए उसमें दिव्य आलोक तथा भावों को प्रवाहित करने का प्रयास कर रहे थे। जब वे वहाँ इस प्रकार शून्य तथा स्थिर नेत्रों के साथ अचल भाव से बैठे हुए निर्वाण-जैसी की अवस्था को लाने की चेष्टा कर रहे थे, तभी बिल हैनसन पीछे से घूमकर मेरे अतिथि के पास आया और उनकी ओर घूरते हुए विस्मय तथा उपहास के स्वर में उनसे बोल उठा, 'अहा, क्या चीज है! मैडम को यह चीज कहाँ से मिली और उसने इसे बनाया कैसे?'

"उसे लगा कि वह मेरे द्वारा निर्मित एक पूर्ण आकार की मोम की मूर्ति या कपड़ों का एक विशाल गुड्डा है, जिसे रंगकर लोगों को प्रभावित करने तथा विस्मय में डालने के लिये मैंने वहाँ रख दिया है। इसकी मैं भला कैसे कल्पना कर सकती थी! इसलिये आगे मैं जो सच्ची घटना बताने जा रही हूँ, कृपया आप उस पर पूरी तौर से विश्वास करें।

"तब मेरे लिये बड़ा संकटपूर्ण तथा संकोच की घड़ी आ पहुँची, जब मेरे प्राच्य देशीय आगन्तुक ने मधुर, पर निराशा एवं शंकापूर्ण आवाज में पूछा – 'वे प्रभावशाली सज्जन तथा महिलाएँ कहाँ हैं, जिनसे आपने मिलाने का वादा किया था? मुझे उनसे मिलना ही होगा और अपने देश की दुर्दशाग्रस्त जनता के लिये कार्य आरम्भ करना होगा।'

"मेरे सारे विद्वान् मित्र समुद्र-तट पर, झीलों के किनारे या पर्वतीय स्थलों पर छुट्टियाँ मनाने गये हुए थे। अगले दिन सुबह मैंने उन सबको इस अपील के साथ पत्र डाल दिये कि वे वापस लौटकर मेरी सहायता करें। वे लोग आये और बड़ी सज्जनता के साथ आकर हमसे मिले। इस प्रकार बिना सोचे-समझे असावधानी में दिया गया मेरा वचन परम सन्तोषजनक रूप से पूरा हुआ।

"एक संध्या की बात याद करके मैं हँसे बिना नहीं रह सकती। उस दिन करीब एक दर्जन महिलाओं ने मेरे माननीय अतिथि को घेर रखा था। वे अपने धर्म तथा दर्शन और भारत की दुर्दशाग्रस्त जनता की निर्धनता तथा अभावों को दूर करने के लिये हमारे देश (अमेरिका) के धन कमाने के कुछ उपायों को वहाँ प्रचलित करने की अपनी योजनाओं का सविस्तार वर्णन कर रहे थे। उस समय ये महिलाएँ उन बातों का अनुमोदन करते हुए उनकी ओर प्रशंसा भरी दृष्टि से देख रही थीं। इसके बाद उन्होंने कहा – 'मनुष्य की आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। यह ब्रह्माण्ड महा अनन्त द्वारा निर्मित एक शक्ति है और प्रत्येक विश्व एक अलग-अलग छन्द है।'"[५]

5. Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 2004, p. 414-8

इस प्रकार स्वामीजी का कार्य शनैः शनैः आरम्भ हुआ। बॉस्टन नगर से करीब २५ मील दूर स्थित 'ब्रीजी मिडोज' नामक इसी फार्महाउस से उन्होंने २० अगस्त १८९३ को चेन्नै के अपने एक शिष्य के नाम अपनी तत्कालीन अवस्था के बारे में जो पत्र लिखा, उसके कुछ अंश उद्धृत हो चुके हैं, बाकी कुछ अन्य अंश इस प्रकार हैं –

"प्रिय आलासिंगा,

मैं इस समय बॉस्टन के एक गाँव में एक भद्र-महिला का अतिथि हूँ। रेलगाड़ी में इनके साथ मेरी अप्रत्याशित रूप से पहचान हुई थी। ये मुझे निमंत्रित करके अपने यहाँ लायी हैं। यहाँ रहने में मुझे यह सुविधा है कि मेरा हर रोज का एक पौण्ड का खर्च बच जाता है; और उनको यह लाभ होता है कि वे अपने मित्रों को बुलाकर उनको भारत से आया हुआ एक विचित्र जन्तु दिखा रही हैं!! इन सब यंत्रणाओं को सहना ही पड़ेगा। अब मुझे अनाहार, जाड़ा और मेरे अनोखे पहनावे के कारण रास्ते के मुसाफिरों की हँसी-मजाक, इन सभी के साथ लड़ाई कर गुजारना पड़ता है। वत्स, निश्चित रूप से जान लेना कि कोई भी बड़ा काम कठिन परिश्रम और कष्ट उठाये बिना नहीं होता है। ...

याद रखो कि यह ईसाइयों का देश है। यहाँ किसी और धर्म या मत के प्रति सम्मान का भाव मानो है ही नहीं। मुझे संसार के किसी भी सम्प्रदाय की शत्रुता का भय नहीं है। ... एक बात मैं देख पाता हूँ कि ये लोग हिन्दू धर्म के उदार मत, और नाजरथ के अवतार (ईसा) पर मेरा प्रेम देखकर बड़े आकृष्ट हो रहे हैं। ... अब तक मेरा काम इतना ही बना है कि लोग मेरे बारे में कुछ जान गये हैं एवं चर्चा करते हैं। यहाँ इसी तरह काम शुरू करना होगा। इसमें काफी समय लगेगा, साथ ही धन की भी जरूरत होगी। जाड़े का मौसम आ रहा है। मुझे सब प्रकार के गरम कपड़े की जरूरत होगी, और यहाँ वालों की अपेक्षा हमें अधिक कपड़ों की जरूरत होती है। ... वत्स, साहस का अवलम्बन करो। ईश्वर की इच्छा से भारत में हमारे बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न होंगे। ...

कल स्त्री-कैदखाने की व्यवस्थापिका श्रीमती जॉन्सन यहाँ आयी थीं। जेल को यहाँ 'कैदखाना' नहीं, बल्कि 'सुधारगृह' कहते हैं। मैंने अमेरिका में जो-जो बातें देखी हैं, उनमें से यह एक बड़ी आश्चर्यजनक चीज है। कैदियों के साथ कैसा उदार बर्ताव किया जाता है, कैसे उनका चरित्र सुधर जाता है और कैसे वे फिर लौटकर समाज के समुचित अंग बनते हैं, ये सब बातें इतनी अद्भुत और सुन्दर हैं कि बिना देखे तुम्हें विश्वास नहीं होगा। इसके बाद जब मैंने अपने देश की दशा सोची, तो मेरे प्राण बेचैन हो गये। भारत में हम गरीबों को, आम जनता को, पतितों को क्या समझा करते हैं! उनके

लिए न कोई उपाय है, न बचने की राह और न उन्नति के लिए कोई मार्ग ही। ... वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे हैं। राक्षस-जैसा नृशंस समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे खूब कर रहे हैं, पर जानते नहीं कि वे चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका फल हुआ दासत्व और पशुत्व। विचारशील लोग कुछ समय से समाज की यह दुर्दशा समझ गये हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश, इसके लिये दोष वे हिन्दू धर्म के मत्थे मढ़ रहे हैं। वे सोचते हैं कि जगत् के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म का नाश ही समाज की उन्नति का एकमात्र उपाय है। सुनो मित्र, प्रभु की कृपा से मुझे इसका रहस्य मालूम हो गया है। दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी ही आत्मा के विविध रूप हैं। समाज की इस हीनावस्था का कारण है – इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में लाने का अभाव, सहानुभूति का अभाव – हृदय का अभाव। ...

समाज की यह दशा दूर करनी होगी – पर धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों का अनुसरण कर और उसके साथ हिन्दू धर्म की स्वाभाविक परिणति-स्वरूप बौद्धधर्म की अपूर्व सहृदयता को जोड़कर लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमंत्र से दीक्षित होकर, ईश्वर के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत में सर्वत्र उद्धार के सन्देश का, सेवा के सन्देश का, सामाजिक उत्थान के सन्देश का, समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे। ...

हताश न होना। याद रखना कि भगवान गीता में कह रहे हैं, "तुम्हारा अधिकार कर्म में है, फल में नहीं।" कमर कस लो, वत्स, प्रभु ने मुझे इसी काम के लिए बुलाया है। जीवन भर मैं अनेक कष्ट उठाते आया हूँ। मैंने प्राणप्रिय सम्बन्धियों को एक तरह से भूखों मरते देखा है। लोगों ने मेरी हँसी उड़ाई, अपमान किया, कपटी कहा और उन्हीं लोगों के प्रति सहानुभूति रखने का मुझे यह फल मिला। वत्स, यह संसार दु:ख का आगार तो है, पर यही महापुरुषों के लिए शिक्षालय-स्वरूप है। इस दु:ख से ही सहानुभूति, सहनशीलता और सर्वोपरि उस अदम्य दृढ़ इच्छाशक्ति का विकास होता है, जिसके बल से व्यक्ति सारे जगत् के चूर-चूर हो जाने पर भी रत्ती भर नहीं हिलता। ...

मैं बारह वर्ष तक हृदय में यह बोझ लादे और सिर पर यह विचार लिए बहुतसे तथाकथित धनिकों और अमीरों के दर-दर घूम चुका, उन्होंने मुझे केवल कपटी समझा। हृदय का रक्त बहाते हुए मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस विदेश में सहायता माँगने आया। जब मेरे स्वदेश में ही लोग मुझे कपटी समझते हैं तो यदि अमेरिकावाले एक अज्ञात विदेशी भिक्षुक को भिक्षा माँगते देखें, तो वे भला क्या समझेंगे! परन्तु भगवान अनन्त शक्तिमान् हैं – मैं जानता हूँ, वे मेरी सहायता करेंगे। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु मद्रासवासी युवको! मैं गरीब, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। ... यह एक दिन का काम नहीं, और रास्ता भी भयंकर कँटीला है। ... प्रभु की जय हो, हम अवश्य सफल होंगे। सैकड़ों लोग इसमें प्राण खोते रहेंगे, पर सैक़ड़ों पुन: उनकी जगह खड़े हो जायँगे। प्रभु की जय! सम्भव है कि मैं यहाँ विफल होकर मर जाऊँ, पर कोई और यह काम जारी रखेगा। तुम लोगों ने रोग भी जान लिया और दवा भी, अब केवल विश्वास रखना। हम धनी या अमीर लोगों की परवाह नहीं करते – हृदयहीन, कोरे मस्तिष्कयुक्त लेखकों और समाचार-पत्रों में प्रकाशित उनके निस्तेज लेखों की भी परवाह नहीं करते। विश्वास, सहानुभूति – दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए। प्रभु की जय हो। जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है, भूख तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। जय प्रभु! आगे बढ़ते रहो – प्रभु हमारे नायक हैं। पीछे मत देखो कौन गिरा इसकी खबर मत लो – आगे बढ़ो, सामने चलो। भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जायँगे – एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ पर खड़ा हो जायेगा।

इस गाँव से मैं कल **बॉस्टन** जा रहा हूँ। वहाँ एक बड़ी महिला-समिति में मुझे व्याख्यान देना है। यह समिति रमाबाई (एक ईसाई महिला) को मदद दे रही है। बॉस्टन में जाकर मुझे पहले कुछ कपड़े खरीदने हैं। यदि यहाँ मुझे अधिक दिन ठहरना है तो मेरी इस अनोखी पोशाक से काम नहीं चलेगा। रास्ते में मुझे देखने के लिए खासी भीड़ लग जाती है। इसलिए मुझे काले रंग का एक लम्बा कोट बनवाना पड़ेगा, सिर्फ व्याख्यान देने के लिए एक गेरुआ पहनावा और पगड़ी रखूँगा। क्या करूँ? यहाँ की महिलाएँ यही उपदेश देती हैं। यहाँ इन्हीं की प्रभुता है, बिना इनकी सहानुभूति के काम नहीं चलेगा। यह पत्र तुम्हारे पास पहूँचने से पूर्व ही मेरी पूँजी सिर्फ ६०-७० पौण्ड की रह जायगी। इसलिए कुछ रुपया भेजने की कोशिश करना। यदि यहाँ कुछ कार्य करना है तो यहाँ कुछ दिन ठहरना जरूरी है। ...

कनाडा के समान अमेरिका की ट्रेनों में अलग-अलग दर्जे नहीं हैं। अत: यहाँ मुझे पहले दर्जे में यात्रा करनी पड़ी, क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई दर्जा ही नहीं। और मैं 'पुलमैन' नामक अच्छी गाड़ियों में चढ़ने का साहस नहीं करता हूँ। इनमें आराम खूब है – खान-पान, नींद यहाँ तक कि स्नान का भी प्रबन्ध रहता है – मानो तुम किसी होटल में हो, पर इनमें खर्च बहुत अधिक है।

यहाँ समाज के भीतर घुसकर लोगों को सिखाना बड़ा कठिन काम है। विशेषकर इस समय कोई भी शहर में नहीं है। सभी गर्मी के कारण ठण्डे स्थानों में चले गये हैं। जाड़े में फिर सब शहर में आयेंगे, तब मैं उनसे मिल सकूँगा। इसलिए मुझे यहाँ कुछ दिन ठहरना पड़ेगा। इतने प्रयत्न के बाद मैं इतनी जल्दी इस कार्य को छोड़ना नहीं चाहता। तुम लोग, जितना हो सके, मेरी मदद करो, बस। यदि तुम मदद भी न कर सकोष्ट तो मैं ही आखिर तक कोशिश कर देखूँगा। यदि मैं यहाँ रोग, जाड़े अथवा भूख से मर भी जाऊँ तो तुम इस कार्य में जी-जान से लग जाना। पवित्रता, सरलता और विश्वास चाहिए। मैं जहाँ भी रहूँ मेरे नाम पर जो कोई पत्र या रुपये आयें उनको मेरे पास भेजने के लिए मैंने कुक कम्पनी से कह दिया है। 'रोम एक ही दिन में तो बना नहीं।' यदि तुम रुपया भेजकर मुझे कम से कम छह महीने यहाँ रख सको, तो आशा है कि सब ठीक हो जायेगा। इस बीच जो भी सहायता मेरे सामने आयेगी, उसका सहारा लेने का भरसक कोशिश करता रहूँगा। यदि मैं अपने निर्वाह के लिए कोई उपाय ढूँढ़ सकूँ तो तुम्हें तुरन्त तार दूँगा।

पहले मैं अमेरिका में प्रयत्न करूँगा; यहाँ विफल होने पर इंग्लैंड में। यदि वहाँ भी सफल न होऊँ तो भारत लौट आऊँगा तथा ईश्वर के दूसरे आदेश की प्रतीक्षा करूँगा।

रा० (बै. रामदास) के पिता (छबीलदास) इंग्लैंड गये हैं। वे घर लौटने के लिए बहुत व्याकुल हैं। उनका दिल तो खूब अच्छा है – केवल बाहरी बर्ताव ही में कुछ बनिये का-सा रूखापन है। चिट्ठी पहुँचने में बीस दिन से ज्यादा लगेंगे।

इस न्यू इंग्लैंड में अभी इतना जाड़ा है कि हर रोज शाम-सबेरे आग जलानी पड़ती है। कैनाडा में जाड़ा और भी अधिक है। वहाँ पर ऐसे मामूली ऊँचे पहाड़ों पर भी मैंने बर्फ गिरते देखा जैसा कि और कहीं मेरे देखने में नहीं आया।

इस सोमवार को मैं फिर सालेम में एक बड़ी महिला-सभा में व्याख्यान देने जानेवाला हूँ। उससे और भी अनेक सभा-समितियों से मेरा परिचय हो जायेगा। इस तरह मैं धीरे धीरे अग्रसर हो सकूँगा। परन्तु ऐसा करने के लिए इस अत्यन्त महंगे देश में बहुत दिन ठहरना पड़ता है। भारतवर्ष में चाँदी का भाव चढ़ जाने से यहाँ के लोगों के मन में बड़ी आशंका हो गयी है। बहुत-से कारखाने भी बन्द हो गये हैं। इसलिए अब यहाँ से सहायता पाने की आशा करना व्यर्थ है। मुझे और कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी।

अभी मैं दर्जी के पास गया था। जाड़े के कपड़ों के लिए आर्डर दे आया। उसमें ३०० रुपये या इससे भी अधिक खर्च लगेगा। यह न समझना कि ये बहुत अच्छे कपड़े होंगे। ये मामूली ही होंगे। यहाँ की महिलाएँ पुरुषों की पोशाक के बारे में बहुत ही बारीक नजर रखती हैं और इस देश में उन्हीं की प्रभुता है। पादरी लोग इनसे खूब रुपया निकाल लेते हैं। हर वर्ष ये लोग रमाबाई की खूब सहायता करते हैं। यदि तुम लोग मुझे यहाँ रखने के लिए रुपया न भेज सको तो इस देश से लौट आने के लिए कुछ रुपया भेज देना। यदि इस बीच कोई शुभ खबर होगी तो मैं लिखूँगा या तार करूँगा। 'केबल' (समुद्री तार) भेजने में प्रति शब्द चार रुपये लगते हैं।

शुभाकांक्षी, विवेकानन्द[६]

आलासिंगा को टेलीग्राम भेजना

२० अगस्त को स्वामीजी ने उपरोक्त पत्र में विस्तारपूर्वक अपनी हालत लिखी, परन्तु अमेरिका से भारत पत्र जाने तथा उसका उत्तर आने में कम-से-कम महीना भर लग जाता, अत: २४ अगस्त को उन्होंने आलासिंगा पेरूमल के नाम एक समुद्री तार भी भेजा। स्वामीजी ने उस तार में जो कुछ लिखा था, उसकी एक प्रतिलिपि आलासिंगा की अंग्रेजी जीवनी में मुद्रित हुई है, जो उस प्रकार है –

'Wolf is at my doors. All the money is spent. Send money at least for my return !'

अर्थात् – "मैं भूखों मर रहा हूँ। सारे पैसे खर्च हो चुके हैं। कम-से-कम मेरे लौटने के लिये रुपये भेजो।"

चेन्नै के निवासी अपने शिष्य श्री आलासिंगा पेरूमल को पूर्वोद्धृत पत्र तथा तार भेजने के बाद स्वामीजी को जैसे-जैसे अवसर तथा सुयोग मिला जन-सम्पर्क तथा वेदान्त-प्रचार के कार्य में जुट गये।

इसके बाद हम देखेंगे कि स्वामीजी की संकटपूर्ण अवस्था तथा समस्याओं की जानकारी पाकर भारतवर्ष में उनके कई तरह के परिचितों के मन में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुईं !

❖ (क्रमश:) ❖

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ४०० (२० अगस्त १८९३)

७. His Master's Disciple, by H.L.N.Sastry, Mysore, Ist Ed. 2005, p.46

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(८३) जाको राखे साइयां

सातवीं शताब्दी में तमिलनाडु में बेलाल परिवार में एक सन्त हो गये हैं। चिदम्बरम शहर में सम्बन्धन् नामक उनके एक रिश्तेदार ने उनकी अटल भगवद्-भक्ति से अभिभूत होकर उन्हें 'अप्पर' (पिता) कहा और तब से वे इसी नाम से जाने जाने लगे। संत अप्पर शिव मन्दिर में बैठकर सुन्दर गीतों की रचना करके प्रभु का गुणगान करते रहते। गीतों को सुनने के लिए मन्दिर में भक्तों की भीड़ जमने लगी। बात जब राजा महेन्द्र प्रथम तक पहुँची, तो वे मन्दिर में गये और उन्होंने अप्पर से जैनधर्म में दीक्षित होने की प्रार्थना की। सन्त शिवभक्त थे, अत: उन्होंने नम्रतापूर्वक राजा की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। इस पर राजा को क्रोध आ गया और उन्होंने सन्त को कैद करने का आदेश दे दिया।

राजा ने कारागार में भी संत से जैन धर्म की दीक्षा लेने को कहा, किन्तु जब वे टस से मस न हुए, तो उसने कहा – ''यदि तुमने जैन धर्म स्वीकार नहीं किया, तो जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा।''

अप्पर ने निर्भीक स्वर में तमिल भाषा में एक पद गाकर राजा को इसका उत्तर दिया, जिसका भावार्थ इस प्रकार है –

''हम पर किसी की भी सत्ता हावी नहीं हो सकती। मैं जब नरक से नहीं डरता, तो तुझ जैसे राजा से क्यों डरूँ? मैं कभी क्रोधित नहीं होता और दु:ख-त्रासदी मेरे पास आने से डरते हैं। जिस पर शिवजी की कृपा होती है, उसे चिर सुख प्राप्त होता है, इसलिए विपदाओं में मेरे सामने खड़े होने का सामर्थ्य नहीं। मुझ पर दु:खों की छाया तक नहीं पड़ सकती, क्योंकि भगवान शिव का मैं दास हूँ। मेरी निष्ठा मेरा सर्वस्व उन्हीं पर न्योछावर है, इसलिए आप जो भी दण्ड अथवा यातनाएँ दें, मैं शिवजी की भक्ति नहीं छोड़ सकता।''

यह सुनकर राजा आग-बबूला हो गया। उसने अपने सेवकों द्वारा सन्त के गले में भारी पत्थर बँधवाकर नदी में डलवा दिया, किन्तु पत्थर जल पर तैरने लगा। उन्हें बड़ी मात्रा में चूना खिलाया गया, हाथी के पैरों-तले कुचलवाया गया, किन्तु सन्त पर कुछ भी असर नहीं हुआ। राजा पर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि उसने स्वयं ही शैव-पन्थ की दीक्षा ले ली और इसी पन्थ के प्रचार में लग गये।

(८४) देव – भक्ति-श्रद्धा के भूखे

कांचीपुरम् के शासक चोल राजा अनन्तशयन तीर्थ में गये और भगवान विष्णु के विग्रह पर उन्होंने ज्योंही मुक्ता-जटित आभूषण चढ़ाये, त्योंही विष्णुदास नामक एक दरिद्र ब्राह्मण ने आकर ऊपर से तुलसी-पत्र और जल डाल दिया। राजा को उसकी यह धृष्टता पसन्द नहीं आई, परन्तु वे खामोश रहे। उनके मन में द्वन्द्व उठा कि पूजा का अधिकारी कौन है – राजा या निर्धन अकिंचन? मगर जब किसी भी प्रकार उनके इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ, तो इसके लिये उन्होंने यज्ञ करने का निश्चय किया।

उन्होंने एक करोड़ मुद्राएँ व्यय करके भगवान विष्णु के आविर्भाव हेतु उस विराट् यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ-स्थल के बाहर ही विष्णुदास विष्णु-पूजा में लीन रहने लगा। महीनों बीत गये। राजा का यज्ञ और विष्णुदासजी की पूजा – दोनों अबाध गति से चलते रहे। इस बीच विष्णुदास को महसूस हुआ कि एक सप्ताह से प्रतिदिन कोई उसका भोजन चुरा रहा है। इस कारण वह भगवान को भोग नहीं लगा पाता और उसे स्वयं भी भूखे रह जाना पड़ता था। चोर को पकड़ने के लिए एक दिन वह वहीं छिपकर बैठ गया। उसने एक दीन-हीन कृशकाय क्षुधित चाण्डाल को अपनी रोटियाँ उठाते हुए देखा। विष्णुदास सामने आ गया और उससे बोला – ''अतिथि, रुको। सूखी रोटियों के साथ में यह घी भी ले जाओ।'' अगले ही क्षण चाण्डाल ने भगवान विष्णु का रूप धारण किया। भगवान ने विष्णुदास को विमान पर बिठाया और उसे वैकुण्ठ ले गये। यज्ञमण्डप में बैठे चोल राजा ने विमान देखा, तो सोचने लगे – ''मैं पराजित हुआ। आज मैं जान गया कि भगवान सम्पन्न के वैभव पर नहीं, अकिंचन की सरल भक्ति पर रीझते हैं, यज्ञ व दान राशि से प्रसन्न नहीं होते। राजा को विरक्ति हुई। उन्होंने अपने भानजे को राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया और उसके बाद यज्ञ-मण्डप में आकर हाथ जोड़कर वे बोले – ''भगवन्, मैं आपकी भक्ति का भूखा हूँ।'' इतना कहकर वे यज्ञकुण्ड में कूदने ही वाले थे कि भगवान अग्निकुण्ड से ऊपर आकर उन्हें भी एक दूसरे विमान में वैकुण्ठ ले गये।
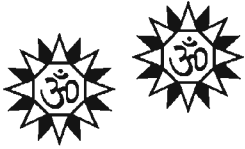
लन्दन में स्वामी विवेकानन्द
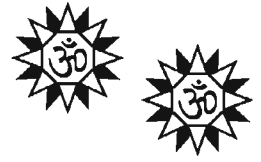
टी. जे. देसाई

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

इन्हीं दिनों (लंदन में १८९५ में) स्वामी विवेकानन्द के दो सार्वजनिक व्याख्यान सुनने के लिये मुझे मिस मुलर का निमंत्रण मिला। पहला व्याख्यान मैंने श्रीमती इंगाल के साथ सेंट जेम्स हॉल में सुना। इसी समय मैंने महान् स्वामीजी के भव्य व्यक्तित्व का पहली बार दर्शन किया। एक संन्यासी से कहीं अधिक वे एक भारतीय महाराजा प्रतीत हो रहे थे। उन्होंने अपने सिर पर गेरुए रंग की पगड़ी पहन रखी थी। उन्होंने अपने शानदार तथा प्रबल वाग्मिता से श्रोताओं को झकझोर डाला। अगले दिन के समाचार-पत्रों में लिखा गया कि केशवचन्द्र सेन के बाद वे दूसरे भारतीय हैं, जिन्होंने अपनी अनोखी वाग्मिता से अंग्रेज श्रोताओं को विस्मित कर डाला है।

उस दिन स्वामीजी ने 'वेदान्त' पर व्याखान दिया था। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें ऐसी नाच रही थीं और उनका सर्वांग ऐसा स्पन्दित हो रहा था, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सभा की समाप्ति के उपरान्त स्वामीजी ने अपनी पगड़ी उतार दी और उसकी जगह एक बड़े पारसी हैट जैसी दिखनेवाली एक बड़ी तथा लम्बी-सी कश्मीरी टोपी पहन ली थी।

अगली बार बैलून सोसायटी में स्वामीजी का व्याख्यान सुनने को मिला। वहाँ वे कुछ समय तक बोले, पर वहाँ उनका वह तेज देखने को नहीं मिला। व्याख्यान के बाद एक पादरी उठकर खड़ा हो गया और उन पर आक्रमण करता हुआ बोला कि यदि स्वामीजी थोड़ा कष्ट उठाकर अपना भाषण लिखित रूप में लाये होते और वहाँ पढ़ दिया होता, तो कहीं अधिक अच्छा होता, आदि आदि। स्वामीजी उसे उत्तर देने के लिये उठ खड़े हुए और उस समय वे अपने पूरे फार्म में थे। उन्होंने ऐसा अग्निगर्भित व्याख्यान दिया कि पादरी के लिये सिर छिपाना मुश्किल हो गया। उन्होंने कहा कि कुछ स्थूल बुद्धि के लोगों की ऐसी धारणा है कि वेदान्त को केवल कुछ दिनों में ही समझा जा सकता है। स्वामीजी ने आगे बताया कि उन्हें वेदान्त को भलीभाँति समझने के लिये अपने जीवन के सुदीर्घ बारह वर्ष लगाने पड़े थे। उन्होंने एक-एक करके पादरी द्वारा उठायी गयी प्रत्येक आपत्ति का सुस्पष्ट उत्तर दिया और उसके बाद अपनी मधुर आवाज में वेदों से 'सुपर्णम्'[१] से आरम्भ होने वाले सूक्त की आवृत्ति करते हुए विजय की मुद्रा में अपने भाषण का पटाक्षेप किया, जो मेरे कानों में आज भी गूँजता है।

१८९६ ई. में मैं 'रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड' का सदस्य बना। उस समय मेरा उस काल के कुछ सर्वश्रेष्ठ विद्वानों के साथ परिचय हुआ था। प्राध्यापक राइस डेविड्स रायल एशियाटिक सोसायटी के सचिव थे। वे संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। आयोजित होनेवाली सभाओं की सूचना सदस्यों को पहले से ही भेज दी जाती थी। सामान्य रुचि के किसी भी विषय पर एक व्याख्यान पढ़ा जाता और तदुपरान्त उस पर चर्चा होती। उसके बाद अल्पाहार की व्यवस्था होती। उस दौरान हमें बातचीत के द्वारा आपस में विचार-विनिमय करने और उस काल की सर्वोच्च साहित्यिक विभूतियों से मित्रता स्थापित करने के काफी अवसर मिलते। इन सभाओं की रिपोर्ट सोसायटी की त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ करती। कुमारी डफ तथा कई अन्य महिलाएँ भी रायल एशियाटिक सोसायटी की सदस्य थीं और ये प्राय: ही सभाओं में उपस्थित रहतीं। कुमारी डफ संस्कृत की विद्वान् थीं और जर्मनी के प्राध्यापक डॉयसन के The Elements of Metaphysics (दर्शन-शास्त्र के तत्त्व) ग्रन्थ का उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया था। इंग्लैंड की इन उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं से बातें करना बड़ा आनन्ददायक था, जिन्हें कट्टरपन्थियों ने कटाक्ष के रूप में 'ब्लू स्टाकिंग्स' नाम दे रखा था। रायल एशियाटिक सोसायटी की सभाओं में मेरे भी कुछ व्याख्यान हुए।

स्मरण आता है कि एक सत्र में प्रो. बेन ने 'उपनिषद्' पर अपना एक लेख पढ़ा था। स्वामी विवेकानन्द तथा श्री रमेश चन्द्र दत्त, सी.आई.ई. भी उपस्थित थे। सर रेमंड वेस्ट सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। पाठ समाप्त हो जाने के बाद मैंने उस पर एक उत्साहपूर्ण व्याख्यान दिया। मैंने सामान्य रूप

१. तैत्तिरीय आरण्यक, ३/११/१

से यूरोप के विद्वानों की 'अहंता' और विशेष रूप से उनकी 'व्यक्तिमत्ता' को उनकी निर्गुण तथा अनन्त ब्रह्म की अनुभूति में बाधक बताया। इस पर प्रो. राइस डेविड्स विशेष रूप से आहत हुए और उठकर एक उत्तेजनापूर्ण भाषण दिया। मैंने फिर उठकर धीरे-से उनसे कहा कि मेरा उद्देश्य उन्हें आघात पहुँचाना कदापि न था और यूरोपीय मेधा के प्रति मेरी परम श्रद्धा है, परन्तु जब वे उपनिषदों तथा वेदान्त में हाथ-पाँव मारना चाहते हैं, तो सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें कुछ मामलों में हिन्दुओं द्वारा दिशा-निर्देश लेने की आवश्यकता है, क्योंकि उन्हीं को इसमें विशेषज्ञता प्राप्त है – उसी प्रकार जैसे कि अरब सागर के छिछले तलों तथा चट्टानों से अपरिचित किसी महानतम अंग्रेज नाविक की तुलना में एक साधारण-से अरबी मल्लाह बालक को अरब सागर के बारे कहीं अधिक जानकारी होगी और वह सुरक्षित रूप से हमारे इच्छित स्थान पर पहुँचा सकेगा। उत्तेजना शान्त हुई और इस अल्पकालिक तूफान के बाद हमने एक साथ चाय पी। इसी समय मैंने श्री दत्त को पहली बार देखा। उनका भी व्याख्यान हुआ, परन्तु उन्होंने बड़े सौम्य ढंग से अपनी बात प्रस्तुत की थी।

स्वामीजी ने मेरा व्याख्यान बहुत पसन्द किया। वे मुझे अपने आवास पर ले गये और रास्ते भर विभिन्न विषयों पर बातें करते रहे। यह देखकर मुझे बड़ा विचित्र लगा कि उस दिन स्वामीजी ने एक टॉप हैट पहन रखा था। यदि मैं भूल नहीं रहा हूँ, तो उस दिन उनके आवास पर उन्होंने तथा एक अन्य संन्यासी (स्वामी सारदानन्द या अभेदानन्द) ने मिलकर खिचड़ी आदि बनायी थी, और मुझे भी अपने साथ भोजन के लिये आमंत्रित किया था।

उसी वर्ष (१८९६ ई.) स्वामीजी ने लंदन के विभिन्न स्थानों में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा राजयोग पर व्याख्यान दिये थे। उन्हें ब्लावटस्की लॉज (थियॉसाफिकल सोसायटी) में भी व्याख्यान के लिये आमंत्रित किया गया था। मैंने उनके अधिकांश व्याख्यान सुने। अंग्रेज-समाज के सर्वोच्च वर्ग के लोग उनके व्याख्यानों में उपस्थित रहते थे और सभी उनके पीछे पागल थे। सभागृह से अपने आवास को लौटते समय या अपने आवास से आसपास के स्थानों को टहलते हुए जाते समय वे मुझे भी साथ ले जाते। उनका, अपनी छात्रा मिस मूलर का या श्री स्टर्डी का निमंत्रण पाकर मैं प्राय: ही उनके साथ भोजन किया करता। स्वामीजी के अमेरिका से इंग्लैंड आने पर उनके रहने का व्यय-भार शायद श्री स्टर्डी ही उठाते थे। स्टर्डी एक सच्चे योगी के समान थे। श्री गुडविन स्वामीजी के एक अन्य निष्ठावान अनुयायी थे और वे स्वामीजी के व्याख्यानों को शार्टहैंड में लिखा करते थे, जो बाद में प्रकाशित भी हुए।

१८९६ ई. की जुलाई में मांटेगू मेंशन्स में 'लंदन हिन्दू समिति' का एक सम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द ने इसकी अध्यक्षता की। समिति के अवैतनिक अध्यक्ष श्री दादाभाई नौरोजी भी उपस्थित थे। मद्रास के एक सज्जन श्री राममोहन राय ने 'भारत की आवश्यकताएँ' विषय पर एक व्याख्यान दिया। समिति के सचिव के रूप में मुझे सभा, जलपान आदि की व्यवस्था करनी थी। इस सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में स्वामी विवेकानन्द बोलने के लिये खड़े हुए और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। सभा में अखबारों के संवाददाता भी उपस्थित थे। अपने भाषण के दौरान जब उन्होंने मेज के ऊपर अपना हाथ पटका, तो मेरी घड़ी मेज से उछलकर फर्श पर जा गिरी और श्रोतागण चौंक उठे। स्वामीजी का व्यक्तित्व बड़ा रुआबदार था। उस दिन मेरी मकान-मालकिन भी मेरे साथ सभा में गयी थीं और वे उनके व्याख्यान तथा व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुईं। स्वामीजी ने अंग्रेज जनता को अपनी वाग्मिता के द्वारा मंत्रमुग्ध कर लिया था, तथापि घर लौटते समय मैंने जगह-जगह पोस्टर लगे हुए देखे कि प्रिंस रणजीत सिंह ने आस्ट्रेलियन टीम के विरुद्ध इंग्लैंड का सम्मान बचाया। वे १५४ रन बनाकर भी नाट-आउट रहे। अगले दिन 'लंदन टाइम्स' में एक सुदीर्घ तथा प्रमुख लेख था – 'इंग्लैंड में भारतवासियों का पराक्रम'। श्री चैटर्जी भारतीय प्रशासनिक सेवा (आइ.सी.एस.) की परीक्षा में सर्वप्रथम आये थे और प्रिंस रणजीत सिंह उस वर्ष के क्रिकेट के औसत में सर्वप्रथम रहे थे।

उसी वर्ष के परवर्ती काल में जब मैं दूसरी बार ओवेन-परिवार के साथ निवास करता था, उस समय हमारे आमंत्रण पर एक अन्य संन्यासी (सारदानन्द या अभेदानन्द) के साथ स्वामी विवेकानन्द हमारे घर निशाभोज के लिये आये। ... ओवन-परिवार के लोग भी स्वामीजी के आगमन पर बड़े आनन्दित हुए। उन लोगों ने स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा वाग्विदग्धता की प्रशंसा भी की।

इस वर्ष (१८९६) मैं स्वामीजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। एक बार उन्होंने लंदन के वेस्ट-एंड में स्थित एक भव्य सभागार में एक असाधारण व्याख्यान दिया। इसमें उन्होंने एक युवा संन्यासी की कथा सुनाई थी। एक राजा ने अपनी पुत्री के लिये एक स्वयंवर का आयोजन किया था और ये संन्यासी संयोगवश वहीं पर जा पहुँचे। राजकुमारी वहाँ उपस्थित राजकुमारों को छोड़ इन संन्यासी पर ही मुग्ध हो गयी और उन्हीं के गले में वरमाला डाल दिया। संन्यासी वहाँ से उठकर निकल पड़े और वे जहाँ कहीं भी गये, राजकुमारी ने उनका पीछा किया। परन्तु वे टस-से-मस न हुए, क्योंकि वे अपना संन्यास छोड़कर उससे विवाह करने को राजी न थे।

व्याख्यान के बाद इंलैंड की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों ने स्वामीजी को घेर लिया और उन पर प्रश्नों की बौछार करते हुए उत्तर माँगने लगीं। स्वामीजी ने किसी प्रकार उनसे अपना पिण्ड छुड़ाया। इसके बाद उन्होंने राहत की साँस ली और मुझे भी अपने साथ आवास तक चलने को कहा।

मार्ग में मैंने स्वामीजी के मन को टटोलने हेतु उनसे पूछा कि युवा संन्यासी द्वारा विवाह करने से मना करके युवती राजकुमारी का दिल तोड़ना क्या अनुचित नहीं था! इस पर वे नाराजगी व्यक्त हुए बोले – "वे अपने को पतित क्यों करते?"

एक अन्य समय, जब स्वामीजी के आवास में केवल हम दोनों ही थे, मैंने वेदान्त के कुछ जटिल प्रश्न उनके समक्ष रखे। उन्होंने मेरे लिये उनकी व्याख्या की। उनमें से एक प्रश्न जीवात्मा का ब्रह्म के साथ अभेदत्व के विषय में था। मैंने ब्रह्म के स्वरूप का अध्ययन तथा अनुभूति के प्रयास में अपना बहुत-सा समय लगाया था, इसलिये मैं नि:शब्द मौन के साथ उनके उत्तर की प्रतीक्षा करते हुए मानसिक रूप से सर्वव्यापी ब्रह्म के साथ तादात्म्य-बोध करने की चेष्टा करने लगा। उस विशेष क्षण में मुझे ब्रह्म पर चिन्तन करते देखकर स्वामीजी सहसा बोल उठे – "**तत्त्वमसि** – वह तुम्हीं हो।" मुझे अन्य किसी व्याख्या की आवश्यकता न थी। उस वर्ष (१८९६) के अन्त में स्वामीजी भारत लौट गये।

इसके बाद एक बार और मैं विद्यावान् स्वामीजी से मिलने उनके आवास पर गया था। उन्होंने बड़ी सौजन्यता के साथ मेरा स्वागत किया। मेरी उनके साथ आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा हुई, जिसके दौरान उन्होंने भगवद्-गीता के कई श्लोकों की आवृत्ति की थी –

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

– जिन लोगों की बुद्धि ब्रह्म या समभाव में स्थित है, वे लोग इसी जीवन में जन्म तथा मृत्यु के चक्र पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि ब्रह्म दोषरहित तथा समत्वमय है। (५/१९)

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।

– हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु तुम उन्हें नहीं जानते। (४/५)

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।

– जो लोग अविवेकपूर्वक शरीर के अंगों तथा शरीर में स्थित मुझको भी पीड़ा देते हैं, ऐसे लोगों को तुम निश्चित रूप से आसुरी बुद्धिवाले समझना। (१७/६)

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।।

– हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन, अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग, तुम उठकर खड़े हो जाओ। (२/३)

इसके बाद स्वाभाविक रूप से ही मैं भी धीमे स्वर में बोल उठा –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः
करिष्ये वचनं तव ।।

– हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, संशय दूर हो गए हैं और स्मृति फिर लौट आयी है। अब आप जो आज्ञा देंगे, मैं वही करूँगा। (१८/७३)

स्वामीजी फिर कहने लगे – "**अहिंसा परमो धर्मः** – अहिंसा परम धर्म है" – यह बौद्ध लोगों का सिद्धान्त था, परन्तु इसका प्रभाव इतनी दूर तक चला गया है कि इसने लोगों को दुर्बल बना दिया है। स्वामीजी ने बल तथा पौरुष से युक्त धर्म का प्रचार किया। उन्होंने मुझे बताया कि जब वे पहली बार शिकागो की धर्म-महासभा में बोलने को उठे, तो प्रारम्भ में उन्हें थोड़ी घबराहट महसूस हुई, परन्तु उसी क्षण उनके मन में उपनिषद् का यह महावाक्य कौंध उठा – '**अहं ब्रह्मास्मि** – मैं ही ब्रह्म हूँ' – और उनके तन-मन में एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति का संचार हुआ कि उनके लिये असम्भव भी सम्भव हो उठा था। उसके बाद दिये हुए अपने व्याख्यानों के द्वारा उन्होंने अमेरिकी श्रोताओं को विस्मय-विमुग्ध कर डाला। अमेरिकी समाचार-पत्रों में प्रकाशित विवरण नि:सन्देह इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

इस प्रकार उन्होंने सभी लोगों को सलाह दी कि वे स्वयं को तुच्छ न समझें और अपने ब्रह्मत्व – अपनी दिव्यता को अभिव्यक्त करें।

❑❑❑

श्रीमाँ सारदा देवी की विशिष्टताएँ

डॉ. केदारनाथ लाभ

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की अखण्ड लीला-सहधर्मिणी श्रीमाँ सारदा देवी अनन्त दैवी सम्पदाओं का परमोज्वल प्रकाश थीं। उन्हें भारत और भारत के बाहर आज ब्राह्मी शक्ति की विलक्षण अभिव्यक्ति के रूप में अशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। वे श्रीरामकृष्ण के जीवन के परम घटनापूर्ण काल की अनवरत सहचरी तथा उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा उपलब्धियों की निकटतम साक्षी थीं। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं उनके जीवन के समग्र स्वरूप का गठन किया था और अपने लीला-संवरण के उपरान्त अपने आदर्शों को आगे बढ़ाने का दायित्व सौंपा था।

बाह्य रूप से माँ ने एक सामान्य हिन्दू नारी का गरिमामय जीवन-यापन किया था, निष्ठापूर्वक घरेलू कार्यों के निष्पादन में अपने को नियोजित किया था, पर भीतर से उन्होंने पूर्ण अनासक्ति की साधना की थी तथा भौतिक जगत् में घटनेवाली घटनाओं से वे स्वयं को सर्वदा असम्पृक्त रखती थीं।

आध्यात्मिक व्यापकता

श्रीमाँ सारदा के व्यक्तित्व एवं उपदेशों की दो विशिष्टताएँ सामान्य जनों के लिए विशेष उपयोगी हैं। पहली बात तो यह है कि वे प्राय: अपने शिष्यों को उपदेश देने के क्रम में श्रीरामकृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में मानने-जानने को कहतीं। यद्यपि वे अन्य अवतारों को भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करती थीं तथापि अनवरत ईश्वर-तन्मयता, पूर्ण वैराग्य, सभी धर्मों को ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग मानने आदि के कारण वे श्रीरामकृष्ण को युगावतार के रूप में ग्रहण करती थीं। उन्हें अपने जीवन में श्रीरामकृष्ण की भगवत्ता की अनुभूति हुई थी। स्वभावत: श्रीरामकृष्ण को ईश्वर के साकार स्वरूप के रूप में वे देखती थीं और जन-साधारण के हित में उन्हें इसी रूप में देखने को अपने शिष्यों से कहा करती थीं। परन्तु इस विषय में वे किसी भी तरह हठधर्मी या एकांगी नहीं थीं। यदि कोई साधक किसी अन्य इष्ट की साधना करना चाहता, तो वे उसमें उसी इष्ट के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न कर देती थीं। यह वैचारिक उदारता, आध्यात्मिक व्यापकता तथा साधकों के प्रति सहृदयता उनकी एक खास विलक्षणता थी।

भागवती शक्ति-सम्पन्नता

दूसरी बात यह है कि श्रीमाँ स्वयं जगन्माता तथा दैवी या भागवती-शक्ति-सम्पन्ना थीं। वे अनन्त अखण्ड शक्ति की ज्योति-जाह्नवी थीं। यह कोई भावुकतापूर्ण कथन नहीं है। इसका एक दार्शनिक अभिप्राय या दार्शनिक सार्थकता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म निष्क्रिय है। वह स्वयं जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार की क्रियाओं में लिप्त नहीं रहता। ये कार्य वह अपनी रहस्यमयी माया अथवा शक्ति के द्वारा सम्पन्न करता है। श्रीरामकृष्ण भी कहा करते थे – ''ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। एक को मानने से दूसरे को भी मानना पड़ता है। जैसे अग्नि के दहन शक्ति के सिवा अग्नि को सोचा नहीं जा सकता, फिर दूध की धवलता के बिना दूध का विचार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्म को छोड़कर शक्ति को और शक्ति को छोड़कर ब्रह्म को नहीं सोचा जा सकता।'' सारा जगत् ब्रह्म की शक्ति का ही प्रसार है। श्रीरामकृष्ण ने इसे बड़े अच्छे ढंग से समझाया है। उनका कथन है – ''जहाँ कहीं कार्य है – सृष्टि, स्थिति, प्रलय है – वहीं शक्ति है! परन्तु जल स्थिर रहने पर भी जल है और तरंगपूर्ण रहने पर भी जल ही है। वह सच्चिदानन्द ही आद्याशक्ति है, जो सृष्टि, स्थिति प्रलय किया करती है।'' वस्तुत: जैसे अस्थि-चर्ममय सांसारिक या लौकिक माता अपने गर्भ से बच्चों को उत्पन्न करती है और फिर उनका लालन-पालन करती है, वैसे ही जड़-चेतनमय यह सारा जगत् आद्याशक्ति से ही प्रक्षिप्त अर्थात् उत्पन्न होता है। फिर यही शक्ति अपने द्वारा सृजित जीवों को अपने में विलय कर उन्हें सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर देती है। यह शक्ति सभी जीवों में रहती है, परन्तु पुरुषों की अपेक्षा नारियों में इसकी समानता अधिक परिलक्षित होती है। यद्यपि सभी स्त्रियाँ उसी शक्ति की धारा हैं, परन्तु जो नारी सांसारिकता के काजल से पूर्णत: अछूती या बेदाग रहती है, अदूषित रहती है, वह इस आद्याशक्ति की एक सबल-सशक्त धारा हो जाती है। श्रीमाँ सारदा एक ऐसी ही निरंजना नारी थीं। उन्होंने प्रार्थना की थी – 'चन्द्रमा में भी दाग है, माँ, मुझे बिल्कुल बेदाग कर दो।' ओर ऐसा ही हुआ भी। अत: श्रीमाँ सारदा देवी स्वयं शक्ति-स्वरूपा थीं। वे जगज्जननी थीं। वे जगत् के सभी प्राणियों को – भलों और बुरों को, पुण्यात्मा और पापात्मा को, साधु ओर दुराचारी को – अपनी सन्तान मानती थीं। वे जगन्माता थीं। यही माँ सारदा की दूसरी विलक्षणता है, विशिष्टिता है।

वैश्वीकरण और माँ सारदा

अब हम श्रीमाँ को वर्तमान परिवेश के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा करें। आज का विश्व अगणित समस्याओं के बोझ से दबा जा रहा है। विकसित देश विकासशील देशों को मनचाहे डण्डों से हाँकना चाहते हैं। कहीं लोकतंत्र अपनी

खूबियों की अपेक्षा अपनी विभूतियों को उभारकर जन-मन में भय, संत्रास और निराशा का जाल बुन रहा है, तो कहीं तानाशाही सिर उठा रही है और कहीं-कहीं सामाजिक-आर्थिक विषमता ने समाज को तबाह कर रखा है। सम्पन्न देशों में आत्महत्या का सिलसिला शीर्ष पर है और कहीं पापाचार, हिंसा आदि का तांडव हो रहा है। संचार माध्यमों के द्वारा आयातित विभिन्न संस्कृतियों की टकराहट से उपजी एक नयी अपसंस्कृति नयी पीढ़ी को दिग्भ्रान्त कर रही है।

आज हम वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। तकनीकी प्रगति, भौतिक विज्ञान, नाभिकीय विज्ञान तथा अन्य विज्ञानों की प्रगति और संचार माध्यमों की प्रगति ने हमें तेजी से वैश्वीकरण की ओर ढकेल दिया है। सायबर-स्पेस तथा दूर-संचार-माध्यमों में हुई क्रान्ति ने सारे संसार को एक गाँव के रूप में ला खड़ा किया है। दुनिया छोटी हो गयी है। धरती सिमट गयी है। धरती की दूरी तो कम हुई है, परन्तु हृदय-हृदय के बीच की दूरी बढ़ गयी है।

यह प्रगति निस्सीम, नर का यह असीम विकास
चरण तल भूगोल, मुट्ठी में निखिल आकाश
आज बढ़ता ही गया विज्ञान है निःशेष
छूटकर पीछे गया है, पर हृदय का देश।
– रामधारी सिंह 'दिनकर'

सचमुच यह एकांगी प्रगति है। मनुष्य केवल दैहिक, भौतिक या यांत्रिक-अभियांत्रिक विकास से ही पूर्ण नहीं हो सकता। उसे वास्तविक तृप्ति, शान्ति और धन्यता के लिए चाहिए भावात्मक विकास भी, वैचारिक विस्तार भी, आत्मिक और आध्यात्मिक विकास भी, तभी हम सही वैश्वीकरण की ओर बढ़ सकेंगे। जहाँ विश्व नीड़ की तरह हो सकेगा, जिसमें हम सभी परस्पर प्रेम और सहानुभूति के साथ रह सकेंगे।

ऐसे अवसर पर माँ सारदा का जीवन हमें प्रेरणा देता है। वे अपने आप में एक विश्वनीड़ हैं। उनके विराट् व्यक्तित्व के विशाल स्नेहांचल में सारा विश्व आत्मसंस्थ होकर अभय-भाव से रह सकता है। उस आँचल की छाँह में जाति और धर्म, ऊँच और नीच, धनी और गरीब, देश और विदेश के समस्त भेदों की, विषमताओं की दीवार ढह जाती है और रह जाती है केवल एक माँ, एक विश्वमाता, अनन्त प्रेम, अनन्त करुणा, अनन्त क्षमा और अनन्त अभय की एक ब्रह्मवारि-धारा, जिसमें सारा विश्व आप्लावित हो रहा है। डाकू अमजद और साधु सारदानन्द, सेठ लक्ष्मी-नारायण और दरिद्र कुली, पारसी सोहराब मोदी और ब्राह्मण युवक विजयचन्द्र (कालान्तर में स्वामी भूतेशानन्द), भारत की गोलाप माँ, गौरी माँ आदि तथा इंग्लैंड की भगिनी निवेदिता और अमेरिका की मिस मैक्लाउड आदि नारियाँ – सभी एक आँचल में स्नेहिल स्थान पाते हैं। यही है माँ का विलक्षण विश्व व्यक्तित्व, उनकी चेतना का सार्वभौमिक विस्तार, हृदय का भूमंडलीकरण।

नारी सशक्तीकरण और माँ सारदा

२१वीं सदी माँ सारदा की सदी होगी। यह नारी सशक्तीकरण का काल है। आज विश्व भर में नारियों की शक्ति के विकास पर जोर दिया जा रहा है। भारत में वैदिक काल से ही नारियों का समाज में उच्च स्थान रहा है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "महान् आर्यों ने और बाद में बुद्ध ने स्त्री को सदैव पुरुषों के बराबर स्थान दिया है। उनके लिए धर्म में लिंग-भेद का अस्तित्व न था। वेदों और उपनिषदों में स्त्रियों ने सर्वोच्च सत्यों की शिक्षा दी है और उनको वही श्रद्धा प्राप्त हुई है, जैसी कि पुरुषों को।" (वि.सा.६/२७६) बीच में समाज में नारियों की अवस्था में गिरावट आ गयी। वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ सारदा ने नारी की महत्ता को प्रतिष्ठित करने का महत्तम आदर्श प्रस्तुत किया। उस सन्दर्भ में स्वामीजी बड़े महत्व की बात कहते हैं – "स्त्रियों की दशा को बिना सुधारे जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है। इस कारण रामकृष्ण-अवतार में स्त्री गुरु को ग्रहण किया गया है, इसीलिए उन्होंने स्त्री के रूप और भाव में साधना की और इसी कारण उन्होंने जगज्जननी के रूप का दर्शन नारियों के मातृ-भाव में करने का उपदेश दिया।" (वि.सा.४/३१७)

माँ सारदा एक आदर्श मातृ-शक्ति हैं, एक दैवी मातृ-शक्ति हैं। इसीलिए भगिनी निवेदिता ने माँ के बारे में कहा था – "माँ सारदा भारतीय नारीत्व के सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण का अन्तिम शब्द हैं।" अर्थात् माँ में भारत की नारियों के विगत और आगत, परम्परा और आधुनिकता तथा प्राचीनता और नवीनता का मणि-कांचन योग है। उन्होंने नारियों के समक्ष सीता की सहिष्णुता, सावित्री की साहसिकता और दमयन्ती की प्रेम-सरिता का विलक्षण आदर्श प्रस्तुत कर वर्तमान युग में एक समन्वित नारी के गठन की प्रेरणा प्रदान की। स्वामी विवेकानन्द ने इस तथ्य को ध्यान में रखकर कहा था – "यदि तुम किसी को सिंह नहीं होने दोगे, तो वह लोमड़ी हो जाएगा। स्त्री एक शक्ति है, किन्तु अब इस शक्ति का प्रयोग केवल बुरे विषयों में ही हो रहा है। इसका कारण यह है कि पुरुष स्त्रियों पर अत्याचार कर रहे हैं। आज स्त्रियाँ लोमड़ी के समान हैं, किन्तु जब उनके ऊपर और अधिक अत्याचार नहीं होगा, तब वे सिंहनी होकर खड़ी होंगी।" (वि.सा.७/३०) और माँ के सम्बन्ध में उन्होंने बड़ा भावपूर्ण एवं चिन्तनशील विचार प्रस्तुत किया था – "माँ का स्वरूप तत्त्वतः क्या है, तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो, ... धीरे-धीरे जानोगे। भाई, शक्ति के बिना जगत् का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि दुनिया के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधम, शक्तिहीन है, पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है

कि वहाँ शक्ति की अवहेलना होती है। उस महाशक्ति को भारत में पुन: जाग्रत करने के लिए माँ का आविर्भाव हुआ है, और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर जगत् में गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन्म होगा।'' (वि.सा.२/३६०)

आज यही हो रहा है। भारत ने जब से श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन और आदर्श की ओर ध्यान देना आरम्भ किया, तब से भारत की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होने लगी है। देश विराट् सिंह की भाँति जाग रहा है। आज नारियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में अग्रसर होने लगी हैं। जैसे एक सूर्य की अनन्त किरणें फैलकर विश्व में नाना प्रकार का शक्ति-संचार करती हैं, उसी भाँति श्रीमाँ के जीवन तथा आदर्श ने नारियों के विविध पक्षों को जागृत कर समाज में उनका स्थान गरिमामय बनाना शुरू कर दिया है। स्वाधीनता संग्राम में लगी सरोजिनी नायडू, विजयालक्ष्मी पण्डित, अरुणा आसफअली, लक्ष्मी बाई आदि को छोड़ भी दें, तो स्वांतत्र्योत्तर भारत में नारियों की प्रगति देखकर चकित हो जाना पड़ता है। आज जीवन के हर क्षेत्र में वे नेतृत्व कर रही हैं। वर्तमान काल में भारत में कई मुख्यमंत्री नारियाँ हैं। आर्थिक क्षेत्र में भी कई महिलाओं ने बड़े-बड़े उद्यम स्थापित किये हैं और उनका सफलतापूर्वक संचालन कर रही हैं। भारत की प्रशासनिक सेवा तथा कई दूतावासों में आज नारियाँ महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व निभा रही हैं। औद्योगिक क्षेत्र में भी भारतीय नारीयों ने अपनी क्षमता और प्रतिभा का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। मुम्बई के एस.पी.जैन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट एंड रिसर्च ने ११० औद्योगिक घरानों की पुत्रियों और बहुओं को प्रशिक्षण दिया है। पार्ले समूह की शौना चौहान, काइनेटिक इंजीनियरिंग की प्रबन्ध-निदेशक सुलज्जा फिरोदिया मोटवानी, थर्मेक्स की अध्यक्ष अनु आगा और बालाजी टेलीफिल्म्स की एकता कपूर जैसी नारियों ने महिला उद्यमियों की संख्या के सन्दर्भ में भारत को विश्व में दूसरे स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

अन्य क्षेत्रों में भी यही स्थिति है। किरण वेदी तथा महाश्वेता देवी को मैग्सेसे पुरस्कार मिला है। अरुन्धती घोष ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में हमारा प्रतिनिधित्व किया है। मीरा बेन सुप्रीम कोट की पहली न्यायाधीश बनीं। १९९८ में अरुन्धती राय को बुकर पुरस्कार मिला। कल्पना चावला तथा सुनीता विलियम्स ने अंतरीक्ष उड़ान में कीर्तिमान स्थापित किया।

क्रीड़ा-क्षेत्र में पी.टी. उषा, सानिया मिर्जा, कर्णम् मल्लेश्वरी, अंजु बी. जार्ज तथा पर्वतारोहण के क्षेत्र में कुमारी सुभाष यादव ने भारत की कीर्ति का ज्योति-कलश छलकाया है। मनोरंजन, संचार-माध्यम, पत्रकारिता, साहित्य-सृजन आदि क्षेत्रों में आज भारतीय नारियों की योशोगाथा सर्वविदित है।

ये चमत्कार आज कैसे हो रहे हैं? ये सभी नारियाँ, सभी बालिकाएँ, माँ सारदा की बेटियाँ हैं। उन्हीं की अन्तर-ऊर्जा का एक स्फुलिंग नारियों की चेतना के परम विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ है।

आन्तरिक शान्ति के प्रसार का प्रयास

वर्तमान मानव-समाज पर श्रीमाँ के उपदेशों का प्रत्यक्ष प्रभाव है। तर्क की वैज्ञानिक प्रणाली एवं प्रयोग से प्रभावित भौतिक विज्ञानी तथा पेशेवर दार्शनिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर जीवन एवं प्रकृति की व्याख्या व नियंत्रण करनेवाले नियमों का आविष्कार करते हैं। वे सत्य के ऐसे विभिन्न आयामों को प्रकट करते हैं, जो हमें मनुष्य एवं जगत् के विषय में बताते हैं कि मानव के भौतिक कल्याण के लिये इस ज्ञान का कैसे उपयोग किया जाय। पर आज ऐसे चिन्तनशील लोगों की संख्या दिनानुदिन बढ़ती जा रही है, जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के आलोक से हीन, मात्र बौद्धिक ज्ञान को आत्मा की गहन दृप्त लालसा को तृप्त करने में यथेष्ट नहीं मानते; आन्तरिक शान्ति के लिए धर्म से आशा-अपेक्षा करते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश आज अनेक धर्म मतान्धता एवं पथवाद से भ्रमित या अव्यवस्थित हो गये हैं। ऐसे धर्म सत्य पर पर्दा डाल देते हैं। आज का मनुष्य जीव, जगत् तथा ईश्वर के वास्तविक स्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति से सम्पन्न पथ-प्रदर्शन की आकांक्षा रखता है। केवल तभी उस पथ-प्रदर्शक वाणी और आचरण प्रेम और करुणा से अनुप्राणित एवं सराबोर हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य की निम्न और क्षुद्र प्रकृति को रूपान्तरित करना है तथा सबको कल्याण की ओर उन्मुख करना है, तो इस अनुभूति को सरल, साधारण शब्दों में व्यक्त करना होगा। श्रीमाँ सारदा का जीवन इन शर्तों की पूर्ति करता है। माँ ने अपनी आन्तरिक शान्ति का केवल स्वयं के लिए संवर्धन नहीं किया, बल्कि अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक इस शान्ति को अन्य लोगों में प्रसारित-सम्प्रेषित करने के निमित्त अथक प्रयास किया। यही माँ के जीवन की महनीय-वन्दनीय विशिष्टताएँ हैं। ❑❑❑

सन्दर्भ तालिका –

१. Holy Mother : Swami Nikhilananda, Ramakrishna Vivekananda Centre, New York
२. माँ सारदा : स्वामी अपूर्वानन्द
३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, ४, ६, ७;
४. श्रीरामकृष्ण वचनामृत
५. विवेक शिखा, मासिक पत्रिका, अंक-१२, वर्ष-२००२

माँ की स्मृति-कणिका

स्वामी भूतेशानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ को जब मैंने पहली बार देखा तब छात्र था। बागबाजार में गंगा के किनारे टहलने जाता था। एक दिन देखा वहाँ कुछ किशोर गाना गा रहे थे। विद्यासागर स्कूल के एक शिक्षक भी वहाँ थे। वे मुझसे यहाँ बैठने को बोले। मैं बैठ गया। बड़ा अच्छा लगा। बाद में वहीं पर ब्रह्मचारी ज्ञान महाराज के सम्पर्क में आया। बागबाजार में गंगा के किनारे एक छोटे शिव-मन्दिर में मैं मित्रों के साथ जाता। वहाँ हम लोगों में घनिष्ठता स्थापित हो गयी। हम सभी के परिचालक और उपदेष्टा थे ज्ञान महाराज। वे स्वामी विवेकानन्द के शिष्य थे। स्वामीजी ने उन्हें आजीवन ब्रह्मचारी रहने का आदेश दिया था। ज्ञान महाराज हमारे जैसे तरुणों को अध्यात्म-पथ पर परिचालित करने की चेष्टा करते और इस विषय में विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन देते।

१९१९ ई. के दिसम्बर में माँ की जन्मतिथि* पर ज्ञान महाराज हम लोगों को बागबाजार में 'माँ के घर' – उद्बोधन ले गये। उद्देश्य था – इस पवित्र स्थान पर माँ का दर्शन और प्रणाम करना। उस समय दिन भर का उत्सव समाप्त हुआ था। माँ के सेवक रासबिहारी महाराज (स्वामी अरूपानन्द) दुमंजले से, माँ के कमरे के बरामदे से बोले – सारे दिन भक्तों को दर्शन देकर माँ इस समय थक गयी हैं। केवल ज्ञान महाराज ही माँ को प्रणाम करने आ सकते हैं।'' ज्ञान महाराज ने उत्तर में कहलवाया कि उनके साथ के बच्चों को यदि माँ के दर्शन और प्रणाम का सुयोग नहीं मिलेगा, तो वे भी माँ को नीचे से ही प्रणाम करके चले जायेंगे। सम्भवत: माँ से पूछने के बाद और माँ के आदेश से रासबिहारी महाराज हम सभी को उपर ले जाकर माँ का दर्शन और प्रणाम करने का सुयोग दिलवा सके। हम लोग एक-एक कर ऊपर गये। उस समय माँ अपने कमरे के दरवाजे के सामने अपने स्वभाव-सुलभ भाव से आपाद-मस्तक कपड़े से ढँकी हुई एक कुर्सी पर केवल दोनों चरणों को निकालकर बैठी थीं। इसलिये माँ का मुख देखने का सुयोग हम लोगों में से किसी को भी नहीं मिला। हम लोग उनके श्रीचरणों का स्पर्श तथा प्रणाम करके चले आये। उस समय वहाँ गोलाप-माँ, योगीन-माँ और माँ के सेवक रासबिहारी महाराज उपस्थित थे। यही मात्र एक बार ही माँ के स्थूल शरीर का दर्शन करने का सौभाग्य मुझे हुआ था। इसके बाद माँ गाँव – जयरामबाटी चली गयीं।

वहीं एक वर्ष से भी अधिक समय बिताने के बाद १९२० ई. के फरवरी के अन्त में स्वामी सारदानन्द महाराज की व्यवस्थानुसार माँ को उद्बोधन लाया गया। उस समय माँ खूब बीमार थीं। धीरे-धीरे माँ का स्वास्थ्य और भी बिगड़ता गया। इस कारण उनका दुबारा दर्शन नहीं हो सका। फिर उसी वर्ष की २१ जुलाई को उनकी महासमाधि हुई।

महासमाधि के बाद सभी भक्तों के दर्शनार्थ उनका शरीर उद्बोधन कार्यालय के आँगन में रखा गया था। उसी अवस्था में मुझे दूसरी बार उनका दर्शन हुआ। उनका शव उद्बोधन से बेलूड़ मठ लाया गया। उस समय जो शोभायात्रा निकली थी, उसमें मैं भी सम्मिलित हुआ था। स्वामी सारदानन्द जी के नेतृत्व में हम सभी उद्बोधन से पैदल चलकर वराहनगर के कूठीघाट तक आये। वहाँ मठ की ही एक नौका पर माँ का शरीर मठ में लाया गया। नाव के माझी और खेनेवाले साधु लोग ही थे। बाकी लोगों के लिये और भी कई नौकाएँ किराये पर ली गयी थीं। उन्हीं में से एक में हम लोग भी मठ आये। बागबाजार से कूठीघाट तक प्रचण्ड गर्मी में नंगे-पाँव आने के कारण अनेक लोगों के पावों में छाले पड़ गये थे। तो भी शोभायात्रा में भाग लेकर और इतनी संख्या में साधु-ब्रह्मचारी-भक्तों की शोभायात्रा देखकर मन में एक अवर्णनीय अनुभूति हुई थी।

उन दिनों गंगा स्वामीजी के कमरे के दक्षिण में स्वामी ब्रह्मानन्द जी के अपने हाथों लगाये हुए नागलिंगम् के वृक्ष के पास से होकर बहती थीं। वहाँ गंगा का किनारा ढालू था। माँ को वहीं उतारा गया। वहाँ से उन्हें मठ-भवन के प्रांगण में आम्रवृक्ष के नीचे ले जाया गया, ताकि साधु और भक्तगण

२. विशुद्ध सिद्धान्त पंचांग के सम्पादक अरुण कुमार लाहिड़ी ने हमें बताया कि उस दिन मंगलवार, दिनांक २४ दिसम्बर १९१८ था। उल्लेखनीय है कि १९१८ ई. में माँ की जन्मतिथि दो बार पड़ी थी – दूसरी बार ४ जनवरी, शुक्रवार को।

माँ का दर्शन कर सकें। तत्पश्चात् उन्हें माँ के वर्तमान मन्दिर के सामने गंगा घाट पर ले जाया गया। घाट अच्छा नहीं था, तो भी वहाँ गंगा का पाट समान और समान्तराल था। वहीं माँ को नहलाया गया। मठ में जहाँ आज माँ का मन्दिर है, उसी जगह पर केवल चन्दन-काठ से चिता सजायी गयी। मुखाग्नि के लिये ठाकुर के भतीजे रामलाल दादा को बुलाया गया था, पर वे मिले नहीं। अत: (उनके भाई) शिबू दादा से मुखाग्नि और चिता की प्रथम अग्नि दिलवायी गयी।

दाह के बाद चिता ठण्डी करने लिये साधु लोगों के साथ भक्तों ने गंगाजल डाला था। मैंने भी डाला था। तत्पश्चात् साधु लोगों में से किसी-किसी ने माँ का अस्थि-अवशेष चुन लिये। संन्यासियों के बाद कई भक्त भी भस्म-अस्थियों का संग्रह करने लगे। तब स्वामी सारदानन्द जी अपनी स्वभाव-सुलभ गम्भीरता को त्यागकर उच्च स्वर में बोल उठे – "जो लोग यह पवित्र चिता-भस्म ले रहे हैं, वे याद रखें कि इसकी पवित्रता की रक्षा करते हुए नित्य पूजा आदि की व्यवस्था न कर पाने से सर्वनाश निश्चित है।" उनकी इस गम्भीर स्वर में उच्चरित चेतावनी से आंतकित होकर भक्तों ने उस संग्रहीत चिता-भस्म को पुन: चितास्थल में ही रख दिये। लगता है साधु लोगों में से किसी-किसी ने अपने पास चिता-भस्म रखा था। कम-से-कम एक व्यक्ति को मैं जानता हूँ, जिनके पास माँ का चिता-भस्म था। वे थे गिरिजा महाराज (स्वामी गिरिजानन्द)। वे माँ की पवित्र अस्थियों की नित्य पूजा करते हैं और बाहर कहीं जाने पर, यदि पूजा के साधन नहीं मिले, तो वहाँ केवल तुलसी-पत्र देते थे।[३]

माँ की स्मृति

स्वामी आदिनाथानन्द

१९१९ ई. के दिसम्बर में मुझे माँ की कृपा मिली। वह घटना निश्चय ही बिल्कुल अप्रत्याशित रूप से हुई थी। मैं रामकृष्ण मिशन के 'कोलकाता-विद्यार्थी-आश्रम' के पास ही स्थित बंग-छात्रावास में रहता था। मैं प्राय: ही 'विद्यार्थी-आश्रम' में आना-जाना किया करता। वहाँ के प्रमुख अनादि महाराज (स्वामी निर्वेदानन्द) थे। वे छात्रों से खूब स्नेहपूर्वक मिलते और बातें करते। परवर्ती काल में कुछ दिन के लिये मैं कर्मी के रूप में भी 'विद्यार्थी-आश्रम' में रहा और बाद में वहीं से मठ में प्रविष्ट हुआ।

प्राय: प्रति रविवार को मैं और कुछ अन्य छात्र, जो या तो 'विद्यार्थी-आश्रम' के छात्र होते या फिर मेरे ही समान अनादि महाराज के भक्त थे, एक साथ बेलूड़ मठ जाते। हम लोग प्राय: ही देखते कि राजा महाराजा (स्वामी ब्रह्मानन्द) ऊपर के बरामदे में गंगा की ओर मुँह करके बैठे हैं। उनका सान्निध्य सर्वदा आनन्दमय रहता। वे बड़े रसिक थे। वे हम लोगों को बड़े स्नेहपूर्वक 'सुरेन की टोली' कहकर सम्बोधित करते, क्योंकि अनादि महाराज को पुकारने का नाम था – 'सुरेन'।

१९१९ ई. के दिसम्बर में श्रीहट्ट के हरसुन्दर नाम के एक युवक माँ से दीक्षा लेने कोलकाता आये। (बाद में ये रामकृष्ण संघ में सम्मिलित होकर स्वामी साधनानन्द नाम से परिचित हुए थे। माँ उस समय जयरामबाटी में थीं। हरसुन्दर के साथ श्रीहट्ट के एक भक्त भी आये थे और वे माँ के शिष्य इन्द्रदयाल भट्टाचार्य (बाद में स्वामी प्रेमेशानन्द) से एक परिचय-पत्र भी लाये थे। हरसुन्दर जयरामबाटी जाने का मार्ग नहीं जानते थे, अत: मैं भी उनका संगी बनकर साथ गया।

जयरामबाटी पहुँचकर वे माँ से बोले – "हम लोग आप से दीक्षा लेना चाहते हैं।" उन्हें 'हम लोग' कहते सुनकर मैं चौंक उठा, क्योंकि दीक्षा के विषय में मेरी कोई धारणा ही न थी। अस्तु, मैं चुप रहा। इन्द्रदयाल बाबू का परिचित जान माँ उन्हें खुशी-खुशी दीक्षा देने को तैयार हो गयीं। वैसे माँ के सेवक इस प्रस्ताव से जरा भी प्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि उन दिनों माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। वैसे बाद में जब उन्हें पता चला कि हम लोग इन्द्रदयाल बाबू के परिचित हैं, तब उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। हमें बताया गया कि अगले दिन हमारी दीक्षा होगी। माँ ने बाद में रासबिहारी महाराज (स्वामी अरूपानन्द) से हम लोगों के बारे में कहा था – "दोनों लड़कों के संस्कार अच्छे हैं। इनके भीतर भक्ति-विश्वास, त्याग-वैराग्य है। देखना, ये दोनों साधु होंगे।"

अगले दिन सुबह माँ के एक सेवक हमें माँ के पूजाघर में ले गये। देखा – माँ वहाँ पहले से ही पूजा के आसन पर बैठी हैं। सामान्यत: उनका मुख घूँघट से ढका रहता था, परन्तु उस समय उनका चेहरा खुला है।

दीक्षा हो जाने के बाद वे हम लोगों के लिये खाना बनाने सीधे रसोईघर में चली गयीं। अपने बीमार शरीर के बारे में जरा भी विचार नहीं किया। मैंने मन-ही-मन सोचा – मैं भी गुरु की कैसी अद्भुत सेवा कर रहा हूँ! उन्हें ही कष्ट उठाकर मेरे लिये भोजन बनाना पड़ रहा है। दीक्षा के बाद से मेरा सारा दिन मानो एक अन्य ही जगत् में बीता – एक ऐसे जहाँ में जिसमें केवल स्नेह प्रेम और आनन्द ही था।

अगले दिन सुबह हम लोग कोलकाता के लिये रवाना हुए। माँ से विदा लेते हुए हमें बड़ा दु:ख हो रहा था। रास्ते में खाने के लिये माँ ने हमारे साथ मुरमुरे तथा गुड़ की एक

---

२. स्वामी गम्भीरानन्द के 'श्रीमाँ सारदा देवी' ग्रंथ में, इस विषय में कोई उल्लेख न मिलने पर भी दुर्गापुरी देवी के 'सारदा-रामकृष्ण' ग्रन्थ में रामलाल द्वारा 'शिराग्नि-कार्य' सम्पन्न होने की बात लिखी है। वर्तमान स्मृतिकथा से इस विषय में नयी जानकारी मिलती है।

३. उद्‌बोधन, वर्ष ९८, अंक १२, पौष १४०३, पृ ६५७-६५८

पोटली बाँध दी थी। विदा लेते समय हमारे प्रणाम करने पर उन्होंने हमें प्राण खोलकर आशीर्वाद दिया। परन्तु उनके दोनों नेत्रों में आँसू भरे थे। हम लोग भी रो रहे थे। चाँपाडागा होते हुए दो दिन बाद हम लोग कोलकाता लौटे। उस समय पुरुषों को आने-जाने में इतना ही समय लगता था; स्त्रियों को इससे भी एक-डेढ़ दिन अधिक लगता था।

विदा लेते समय मेरे साथी ने माँ से पूछा था – ''माँ, मंत्र का कितनी बार जप करूँगा? – हजार, दस हजार या उससे भी अधिक?'' (उस समय हरसुन्दर दसवीं कक्षा में पढ़ता था और मैं इंटरमीडियेट के प्रथम वर्ष का छात्र था। वैसे आयु में वह मुझसे थोड़ा बड़ा था।) माँ ने कहा – ''बेटा तुम लोग अभी छात्र हो। बहुत पढ़ाई-लिखाई करनी होगी। परीक्षा देनी होगी। इस समय अधिक जप नहीं कर सकते। बाद में समय मिलने पर धीरे-धीरे जप की संख्या बढ़ाना। ठाकुर ने स्वयं मुझसे कहा था, ''रामकृष्ण नाम दस बार जपने से भी होगा। उतना ही यथेष्ट है।'' ठाकुर जगत् के कल्याण हेतु स्वयं कठोर तपस्या करके भगवद्-भाव जगा गये हैं। इस समय आन्तरिकता, व्याकुलता, अनुराग, प्रीति के साथ साधन-भजन करने से थोड़ा-सा करने से ही सुफल मिलेगा।'' यह सामान्य निर्देश सुनकर हम लोग पुलकित हो गये। कोलकाता लौटकर जब हमने यह बात स्वामी सारदानन्दजी को बतायी, तो वे बोले – ''हाँ, मन को स्थिर कर पाने पर और मन को वश में ला पाने पर दस बार जप करना ही पर्याप्त है।''

स्वामी निर्वेदानन्द को जब हमने अपनी दीक्षा की बात बतायी, तो वे बड़े खुश हुए। मैंने उन्हें बताया कि राजा महाराजा ने मुझसे कहा था कि पौष के महीने में जाकर एक बार मैं माँ के दर्शन कर आऊँ। जयरामबाटी से कोलकाता लौट आने के बाद मुझे महाराज की बात याद आयी। और उस समय मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं रहा, जब मैंने देखा कि उस समय पौष का महीना ही चल रहा था। अत: मुझे लगा कि अनजाने में सही, पर मैंने महाराज के आदेश का ठीक-ठीक पालन किया है। स्वामी निर्वेदानन्द बोले – ''क्या तुम जानते हो कि महाराज ने क्यों तुम्हें पौष के महीने में माँ का दर्शन करने को कहा था? क्योंकि एक बात प्रचलित है कि पौष में माँ काली का दर्शन करना चाहिये। और माँ तो स्वयं ही माँ काली हैं।''

इस प्रकार अद्भुत तथा अप्रत्याशित रूप से माँ की कृपा प्राप्त करना ही मानो मेरे जीवन का सर्वोत्तम आशीर्वाद था। इसके दो-एक महीने के भीतर ही माँ के बहुत बीमार हो जाने के कारण उन्हें कोलकाता लाया गया। सुना था कि हमारी दीक्षा के बाद केवल दो-एक अन्य लोगों को ही माँ से दीक्षा पाने का सौभाग्य हुआ था। जिस समय मैं कोलकाता के उद्बोधन कार्यालय में माँ का दर्शन करने गया, उस समय किसी भी दर्शनार्थी को दुमंजले पर स्थित माँ के कमरे में नहीं जाने दिया जा रहा था। स्वामी सारदानन्द जी मुझे नीचे की सीढ़ी पर ही खड़े होकर माँ को प्रणाम करने को बोले।

कुछ दिनों के बाद ही मुझे कॉलेज के एक मित्र से सूचना मिली कि माँ ने देहत्याग कर दिया है। मैं कॉलेज से तत्काल बेलूड़ मठ भागा। मठ में गंगा किनारे जहाँ माँ का पूत शरीर रखा था, वहाँ भक्तों की काफी भीड़ थी। दाह-कार्य सम्पन्न होने के बाद बहुत-से भक्त माँ का पवित्र चिता-भस्म एकत्र करने के लिये व्यग्र हो उठे, परन्तु स्वामी सारदानन्द जी ने उन्हें मना किया। परमा प्रकृति आद्याशक्ति पुन: अपने स्वरूप में लीन हो गयीं।* ❖ (क्रमश:) ❖

४. उद्बोधन, वर्ष ८६, अंक १२, पौष १४०१, पृ ६६१-६६२

रवीन्द्रनाथ गुरुः

मातरं नमामि ताम् सरदाश्च भा-रताम्।
त्यागपूत-शान्ति-सौख्य-सत्य-धर्म-भूषिताम्।(ध्रु.)

– मैं उन ज्ञानमयी माँ सारदा को प्रणाम करता हूँ, जो त्याग से पवित्रीकृत शान्ति-सुख सत्य सनातन धर्म से अलंकृत हैं।

सौम्यदीप्ति-शालिनीम् शुभ्र कीर्तिमालिनीम्।
मानवत्व-पोषिणीं च दिव्य शक्ति धारिणीम्।।२।।

– जो सुन्दर दीप्तिशालिनी हैं, पुण्य कीर्तिमयी हैं और मानवता को पोषण करनेवाली दिव्य शक्ति को धारण करनेवाली हैं।

स्नेहवारि-वर्षिणीम् भक्तचित्त-तोषिणीम्।
शुद्धभावनान्विताश्च रामकृष्ण-पूजिताम्।।३।।

– जो स्नेहवारि बरसा करके भक्तों के चित्त को सन्तुष्ट कर देती हैं, जो विशुद्ध भावों से युक्त तथा श्रीरामकृष्ण द्वारा पूजित हैं। (मैं उन ज्ञानमयी माँ सारदा को प्रणाम करता हूँ)।

या देवी सकलाघ-नाशन-कला-दक्षा सुरक्षा-प्रदा।
भक्तानां हितकारणी सुविमला सद्बुद्धिदा सारदा।
यस्याः सद्गुण-रत्नराशि-महिमा सद्वृन्द-संकीर्तितो
सा दुर्वृत्ति-तमोहराऽमृतमयी पायाद्दया सारदा।।४।।

– जो श्री सारदा देवी सब प्रकार के पापों का नाश करने में दक्ष तथा सुरक्षा प्रदान करनेवाली हैं; जो भक्तों की हित करनेवाली सुविमल सद्बुद्धि प्रदान करती हैं; सन्तगण जिनके सद्गुणों की प्रशंसा में लगे रहते हैं; वे ही मन की दुष्प्रवृत्तियों तथा अँधेरे का नाश करनेवाली अमृतमयी माँ सारदा हमारी रक्षा करें।

विवेक-ज्योतिरायातु प्रकाशं भारते चिरम्।
सारदे रामकृष्णाङ्घ्रि-सेविके ज्ञान-सारदे।।५।।

– हे श्रीरामकृष्ण-चरणसेविके, ज्ञान की सारदात्री माँ सारदे! 'विवेक-ज्योति' भारत में चिरकाल तक प्रकाशित होती रहे।

माँ को श्रद्धा-सुमन

महामण्डलेश्वर स्वामी गुरुशरणानन्द जी

(रमणरेती धाम, मथुरा के महामण्डलेश्वर स्वामी गुरुशरणानन्द जी महाराज द्वारा श्री सारदादेवी की सार्ध-शताब्दी के अवसर पर २००५ ई. में कनखल के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम द्वारा आयोजित विशेष कार्यक्रम में सम्बोधन। इसे टेप से लिपिबद्ध किया गया है। – सं.)

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ।।
(देवी-माहात्म्य, ४/५)

हम लोग पराम्बा भगवती जगद्धात्री से अभिन्न माँ सारदा की सार्ध-शताब्दी का जन्मोत्सव सानन्द मना रहे हैं। यह एक ऐतिहासिक दिवस है। माँ के अनुग्रह के बिना आज यहाँ उपस्थिति सम्भव नहीं हो पाती। हम यहाँ प्रवचन करने नहीं आये हैं। हम सब माँ के पुत्र हैं, आप सब हमारे भाई-बहन हैं और इस रूप में हम यहाँ अपने सहोदरों के बीच में हैं।

दुर्गा-सप्तशती में 'यदा यदा दानवोत्था' आदि के रूप में देवी के अवतारों की जो चर्चा मिलती है, उसका क्या तात्पर्य है? वर्तमान युग में लोग अवतारों की अवधारणा पर ही प्रश्नचिह्न लगाया करते हैं। यह देवासुर संग्राम कभी ऐतिहासिक घटना के रूप में हुआ था या नहीं, इस पर भी प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है। हम इसके पक्ष या विपक्ष में कुछ नहीं कहेंगे। परन्तु हमारे अन्तःकरण में निरन्तर देवासुर-संग्राम हो रहा है, यह तो सबकी अनुभूति का विषय है। हम लोगों को अपने अनुभव से ज्ञात है कि कभी-कभी हमारा मन इतना सात्त्विक होता है कि हम सत्कर्म करने में संलग्न हो जाते हैं और कभी-कभी इतना बिगड़ जाता है और ऐसी क्रिया हेतु सचेष्ट हो जाता है, जिसकी कल्पना मात्र से ही देह में सिहरन होने लगती है। जिनके मन में कभी दुर्भावना न आती हो, हम उनकी वन्दना करते हैं। इस दुर्भावना का नियंत्रण कौन करेगा? ये पाप नष्ट होंगे या नहीं? कहा नहीं जा सकता, पर इस पाप की भावना को ही नष्ट किया जा सकता है।

इस देवासुर संग्राम का क्या तात्पर्य है? पूछा जा सकता है कि ऐसे बड़ी-बड़ी दाँतों वाले, सींगों वाले असुर हुये हैं या नहीं; परन्तु अपने चित्त की विकृतियों से आप सब परिचित हैं। उनके कितने बड़े-बड़े दाँत हैं! सारे जीवन की तपस्या क्षण मात्र के प्रमाद से नष्ट होते हमने देखी है और सुनी है। हमारे अन्तःकरण में निरन्तर चलनेवाले इस देवासुर-संग्राम में प्रायः हम देखते हैं। जब आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं, तो दैवी प्रवृत्तियाँ उनके सामने दब-सी जाती हैं। आपने गीता में देखा है कि जब 'समवेता युयुत्सव' – कौरव-पाण्डव युद्ध के लिये एकत्र हुए थे और दैवी प्रवृत्ति शान्त थी, तब उस दैवी प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण को पांचजन्य शंख फूँकना पड़ा। तब अर्जुन ने देवदत्त शंख को बजाया और युद्ध का प्रारम्भ हुआ। तो आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं और प्रायः वे दैवी प्रवृत्तियों को दबा देती हैं और तब हम पापाचरण करते हैं। ये हमारी नित्य की अनुभूति है। हमारा और आपका अनुभव है कि दैवी प्रवृत्तियों को बचाने के लिए हृषीकेश कृष्ण की आवश्यकता पड़ती है, राम की आवश्यकता पड़ती है और अकेले राम या कृष्ण से नहीं, बल्कि उनकी 'सशक्ति' (शक्ति के साथ) आवश्यकता पड़ती है। इसलिए वर्तमान युग में हम जितनी तेजी से तरक्की कर रहे हैं, जितनी तेजी से आगे बढ़ रहे हैं, जितनी द्रुत गति से विकास हो रहा है, जितनी सुविधायें बढ़ रही हैं; तो इन सबको नष्ट करने के उपाय भी उतनी ही तीव्रता से प्रकट हो रहे हैं। Every action is followed by equal and oposite reaction. (प्रत्येक क्रिया के बाद उसी परिमाण में उसकी उल्टी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है।) जितनी सुविधाएँ बढ़ीं, उतने रोग बढ़ गये; जितनी चिकित्सायें बढ़ीं, उतने नये-नये रोग आ गये। अतः अवतार-परम्परा के द्वारा असुरों की या हमारे आसुरी सम्पदों के विनाश हेतु जो प्रयास किये जाते हैं, वे तो दिव्य हैं और उनकी आवश्यकता रहेगी। इसलिए अवतारों का इतिहास तथा उनकी परम्परा अत्यन्त आवश्यक है। और वर्तमान युग में इसकी विशेष आवश्यकता है।

इसीलिए आप देखेंगे कि जब भगवान श्रीरामकृष्ण पधारे, तो इस बार उन्होंने न तो धनुष धारण किया, न गदा-चक्र धारण किया और आपने देखा होगा कि उनके पास शंख भी नहीं है। शायद माँ-काली की पूजा के समय शंख बजाते रहे हों। कोई उपकरण लेकर नहीं आये, क्योंकि उन्होंने देखा कि इस उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आसुरी सम्पत्तियों के विनाश हेतु अब इन चीजों की जरूरत नहीं है। अब पाप का संहार नहीं करना है, बल्कि पाप करने की भावना पर आघात करना है, ताकि पाप की प्रवृत्ति ही न उठे। और आप देखेंगे कि ठाकुर रामकृष्ण परमहंस का साधन इन आसुरी सम्पत्तियों पर विजय हेतु कितना फलीभूत हुआ! उनके साधन थे हमारे विवेकानन्दजी, हमारे राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी)।

सारदामणि माताजी उनकी शक्ति के रूप में आयीं और आप लोग जानते हैं कि कैसे ठाकुर का विवाह हुआ? वे एक छोटी-सी बालिका मात्र थीं और किसी ने उनसे पूछा –

तुम्हारा विवाह किसके संग होगा? तो उन्होंने उंगली उठाकर श्रीरामकृष्णदेव की ओर इशारा कर दिया। मेरे ख्याल से ठाकुर बीस वर्ष से अधिक आयु के थे और बहुत छोटी आयु में – अबोध बालिका के रूप में माँ सारदा विवाहिता हो गयी थीं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि यह सारदा है, ज्ञानदायिनी है। ठाकुर के भानजे हृदय कभी-कभी माँ के विषय में बड़े अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग कर देते थे। एक बार माँ मायके से अपनी माँ के संग ठाकुर से मिलने के लिए दक्षिणेश्वर गयीं और हृदय के कारण ही उनको लौटकर भी आना पड़ा। ठाकुर ने हृदय से कहा था – सावधान! यदि इसका (मेरा) अपमान करोगे तो सह जायेगा, मगर उस (माँ) का अपमान करोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायेगा। ठाकुर माँ की इस महिमा के विषय में जानते थे। जानते तो थे ही, प्रगट करना चाहते थे। जानते तो थे ही – सर्वज्ञ ठाकुर के विषय में ऐसा शब्द कहना – मैं अपनी वाणी को वापस ले लेता हूँ। उन्होंने बहुतों को बताया कि ये सारदा-ज्ञानदायिनी सरस्वती है। इस युग में वह जान-बूझकर शस्त्र और अलंकार धारण नहीं कर रही है कि कहीं उसके सौन्दर्य को देखकर के किसी के अन्त:करण में विकार उद्‌भुत न हो जाय। इसे यदि ठाकुर के शब्दों में कहें तो यह राख से ढँकी हुई बिल्ली है। इसको कोई पहचान नहीं सका है। इसलिए उनको पहचान कराने हेतु ठाकुर को बार-बार प्रयास करना पड़ा। जैसे माँ को अपनी समस्त साधनाओं के फल अर्पित करके ठाकुर परिपूर्ण हुए, वैसे ही उन्होंने माँ को भी साधनसम्पन्न बनाया।

(महाराजजी ने कुछ सामान उठाकर देते हुए कहा) – इसे मेरे कमरे में रखो। इस प्रकार देने का एक कारण है। माँ के विषय में चर्चा करते समय मेरे होश-हवाश गड़बड़ हो जाते हैं। यदि आप (स्वामी नित्यशुद्धानन्द) न होते तो मैं गड़बड़-सड़बड़ कर सकता था। अब मेरी हिम्मत नहीं है। (लेते हुए) मैं इधर ही रख लेता हूँ, क्योंकि माँ के बारे में यदि चर्चा शुरू कर दूँ, तो मेरे ख्याल से सायंकालीन पंगत का समय भी गड़बड़ हो जायेगा। समय का तो कोई मतलब ही नहीं। हम सब आये मध्याह्न-भोजन के लिये और सायंकाल तक बोलते ही रहेंगे। परन्तु कोई और अवसर आयेगा।

माँ के बारे में बोलना सुनना बहुत कठिन है। माँ के बारे में अपने जीवन का यह रहस्य मैंने पहली बार पूज्य स्वामीजी (स्वामी नित्यशुद्धानन्द जी) के सामने उद्‌घाटित किया कि मैं न तुम्हारे ठाकुर को जानता था, न स्वामी विवेकानन्दजी को। मैं अपने जीवन की बात बता रहा हूँ। मैं बड़ी निरीह अवस्था में वृन्दावन के रामकृष्ण सेवाश्रम में भर्ती था। ठाकुर एक बार दक्षिणेश्वर में युवा भक्तों के समक्ष एक महापुरुष (श्री चैतन्य महाप्रभु) के उपदेशों पर चर्चा कर रहे थे। उनके एक शब्द – 'जीवे दया' – जीवों पर दया करनी चाहिये – इस पर चर्चा करते हुए ठाकुर को समाधि हो गयी। सामान्य धरातल पर लौटते हुए वे कहने लगे – "अरे! जीवों पर दया करनेवाला तू कौन होता है? तू क्या जीवों पर दया करेगा? खटमल, मच्छर क्या जीव पर दया करेंगे?" तब उन्होंने कहा – "नहीं, जीव के ऊपर दया नहीं करना। उनकी नारायण-भाव से सेवा करना।" उन्होंने दीन-दुखियों के लिये 'नारायण' शब्द दिया। दीन-दुखियों को नारायण कहते रहे और इसलिए आज भी यहाँ रोगी को रोगी नहीं कहा जाता, 'नारायण' कहा जाता है। यहाँ रोगियों का जहाँ भोजन बनता है, उसे 'नारायण-भण्डार' कहा जाता है। यहाँ नारायण-सेवा की जाती है। जब मैं वहाँ अस्पताल में भर्ती था और दुनिया का हमको प्रेम मिला, लेकिन अब किस रूप में वह तो शब्द से बताना कठिन है। लेकिन माँ सारदा ने ही, मेरा हाथ पकड़ करके, सच कहता हूँ तब ठाकुर के और फिर उसी क्रम से स्वामी विवेकानन्द जी के हाथ में दिया। मैं इससे अधिक कुछ कहने में संकोच कर रहा हूँ। मुझे सच नहीं मालूम कि ठाकुर कौन हैं। लेकिन यदि उस जननी के बारे में हम कुछ चर्चा करने लग जायेंगे, तो समय का अतिक्रमण हो जायेगा। इसीलिए उन पर फिर कभी चर्चा करेंगे। जीवन भर करना ही क्या है! माँ की ही चर्चा तो करनी है।

अरे, यह तो विषयान्तर हो गया! भगवान श्रीरामकृष्ण ने अपनी समस्त साधनाओं का फल माँ सारदा को अर्पित करके स्वयं को परिपूर्ण किया, माँ को भी परिपूर्ण करके सबके समक्ष प्रस्तुत किया। वे उनकी महिमा को कई रूपों में प्रगट कर रहे थे। जब माँ नहबतखाने में ४ फीट लम्बे और ४ फीट चौड़े कमरे में रहती थीं, तो ठाकुर अपने कुछ अन्तरंग भक्तों को वहाँ भेजा करते थे। उन्होंने दीक्षा के लिये सबसे पहले सारदा महाराज (बाद में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) को कहा था – "जाओ, माँ सारदा के पास जाकर के दीक्षा लो।" सारदा महाराज के भाई ने कहा कि इनको सारदा माता से दीक्षा मिली है और ठाकुर ने इनको भेजा था। लेकिन माँ ने दीक्षा देना कब प्रारम्भ किया है? जब ठाकुर ने अपनी लीला संवरित कर ली और माँ शोक-विह्वल होकर वृन्दावन में पधारी थीं। उनके साथ वहाँ पर योगीन महाराज (बाद में स्वामी योगानन्द) भी थे। स्वामी योगानन्द जी के लिये भी ठाकुर का आदेश हुआ कि इसको दीक्षा दो। तब माँ ने सोचा कि यह हमारी भ्रान्ति है। उसी दिन फिर ठाकुर का आदेश हुआ। माँ ने उसे भी उतना महत्त्व नहीं दिया। तब ठाकुर ने तीसरी बार खास तौर से आज्ञा दी – "मैं तुमसे कह रहा हूँ कि इसे दीक्षा दो।" तब माँ ने कहा – "मेरी क्या सामर्थ्य है?" जैसा कि मैंने आपको बताया था कि माँ राख में ढँकी हुई बिल्ली के समान अपने को छिपा कर रखती थीं। माँ के जीवन को आप लोग देखेंगे कि कभी ज्ञान की चर्चा कर रही

हैं, तो कभी व्यावहारिक जीवन की । माँ की बातों को सुनकर भगिनी निवेदिता भी आश्चर्यचकित रह जाती थीं । वे कभी स्वामी विवेकानन्द जैसे जगद्वन्द्य को भी उपदेश देती हैं और कभी राधू जैसी अपनी भतीजी के प्रति लौकिक मर्यादा का निर्वाह भी करती हैं । इसीलिये महापुरुषों के चरित्र के विषय में कहते हैं – **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि** – उसमें अत्यन्त विपरीत भाव देखने को मिलते हैं । फिर परमात्मा के लिये कहा जाता है – **अणोरणीयान् महतो महीयान्** – जो अणु से भी सूक्ष्म है और जो महत्तम से भी महान् है ।

ऐसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध गुणों का आश्रय भी हम सारदा माता के जीवन में देखते हैं । सारदा देवी ऐसी गृहिणी थीं, ऐसी पुत्री थीं और ऐसी भगिनी थीं । उनके भाई अर्थात् मामा लोग कैसा-कैसा आचरण करते थे, लेकिन माँ उन सब पर ध्यान न देकर उसी प्रकार साधारण बलिका के समान, साधारण बहन के समान, साधारण बुआ के समान, साधारण चाची के समान, साधारण पतिपरायणा नारी के समान व्यवहार करते हुये भी; जब आवश्यक होता तब परम ज्ञान-सम्पन्न हो जाती थीं । वे कैसी करुणामयी थीं !

लौकिक भाव से ऐसा कहना पड़ता है कि यदि माँ सारदा ने उन्हें सहयोग न दिया होता, तो क्या रामकृष्ण परमहंस इस ऊँचाई तक स्थिर रह सकते थे ! जब माँ लेटी हुई थीं, तब उन्हें देखकर ठाकुर ने एक बात कही थी – उद्विग्न होकर अपने मन को समझाया था – देख ! तेरे सामने यह (भोग) भी प्रस्तुत है और तेरे सामने वह (योग) भी प्रस्तुत है । तुझे क्या चाहिये? ठाकुर ने अन्त में पवित्र परमात्मा के पथ का ही अनुसरण किया था ।

हम उस वृन्दवन वाली घटना की चर्चा कर रहे थे । माँ के जीवन की अनेकों दिव्य घटनायें हैं, लेकिन आज उनका अवसर नहीं । आज चर्चा तो हम सुन चुके कि कैसे बेलूड़ मठ की स्थापना हुई थी । जब माँ बोधगया में गयी थीं और वहीं के बौद्ध मठ को देखकर उन्होंने ठाकुर से अपने बच्चों के रहने के लिये भी स्थान-अन्न-वस्त्र की प्रार्थना किया था । बेलूड़ मठ के विषय में उन्होंने कहा था – जब मैं इस जमीन को देखा करती थी, तो कहती कि हमारे बच्चों के लिये कुछ यहाँ गंगा के किनारे मठ की जमीन होने से अच्छा होता ।

वे हमारे मठ की जननी तो हैं ही, संघ की जननी हैं । ठाकुर की शिष्य-परम्परा को भी उन्होंने आगे बढ़ाया । ठाकुर ने योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द) को मंत्रदीक्षा देने का आग्रह किया । योगीन महाराज ने कहा कि हमको भी ठाकुर ने इस तरह का आदेश दिया है । माँ ने उन्हें दीक्षित किया । तो ऐतिहासिक दृष्टि से योगीन महाराज ही माँ के पहले शिष्य हुये । परन्तु ठाकुर ने सारदा महाराज (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) को उनके पहले ही दीक्षा के लिये माँ के पास भेजा था ।

एक बार एक महिला के परिवार में कोई बीमार था, तो उन्होंने ठाकुर से कहा कि कोई औषधि दे दीजिये कि वह रोग से मुक्त हो जाय । ठाकुर बोले – "तुम माँ के पास जाओ ।" माँ ने कहा – "मुझे क्या मालूम है, ठाकुर के पास जाओ ।" जब वह तीन बार इधर से उधर जा रही थी, तब माँ ने साधारण-सा बिल्व-पत्र दे दिया और कहा – "जाओ, इसे दे दो, इससे तुम्हारा पति स्वस्थ हो जायेगा ।" इस प्रकार अनेक चमत्कारपूर्ण घटनायें स्वाभाविक प्रवाह-पतन में आयीं ।

माँ की करुणा, उनके वात्सल्य और उनके व्यक्तित्व में विश्वास करो । हरीश जैसा परम पापी जो उनके प्रति कुचेष्टा करने के लिये तैयार हुआ था । माँ अत्यन्त लज्जाशीला होने के बावजूद, चण्डी के समान हरीश के सीने पर चढ़कर उसकी जबान खींचने लगीं । ऐसी महिमामण्डिता थी माँ !

उन्हें जैसे ही पता चलता था कि नरेन (स्वामी विवेकानन्द) आज यहाँ रहेंगे, तो ठाकुर के बिना कहे ही वे चने की दाल चुल्हे पर चढ़ा देतीं । विवेकानन्द जी को चने की गाढ़ी दाल और लूची (पूड़ी) बहुत पसन्द थी । तो माँ अपने आप इतनी करुणामयी थीं कि ठाकुर के बिना कहे ही यह सब आचरण करती रहती थीं । ऐसी माँ की महिमा का गुणगान करने से मैं स्वयं को बलात् रोक रहा हूँ । हम लोग ऐसी ही परम करुणामयी माँ का जन्मोत्सव मना रहे हैं । उन्हीं ने हमको ये सब शरीर प्रदान किये हैं और वे ही बुद्धि के रूप में हमें सत्प्रेरणा प्रदान करती हैं –

या देवि सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता, ...
या देवि सर्वभूतेषु नाना रूपेण संस्थिता, ...
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ।।

इन्हीं वाक्य पुष्पों के द्वारा जगद्धात्री के रूप में उपस्थित उन विविध के चरणों में अपनी पुष्पांजलि अर्पित करके और सभी यतीजनों और अपने सुहृद्-जनों के, बल्कि बन्धुजनों के चरणों में भी माँ के पुत्रों के रूप में, उन्हीं के अवतार के रूप में दर्शन करते हुए वाक्य-पुष्पांजलि अर्पित करते हुए कृतार्थ होकर मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ । जय माँ !!

❑❑❑
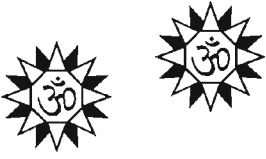
भारतीय नारी और श्रीमाँ

स्वामी अमेयानन्द
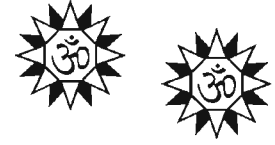
भगिनी निवेदिता ने एक बार कहा था – "श्रीमाँ भारतीय नारी के आदर्श श्रीरामकृष्ण का सर्वोच्च वक्तव्य हैं।" नारी का क्या अर्थ है? भारतीय नारी की क्या विशिष्टता है? उनकी समस्या क्या है? उनका आदर्श क्या है? समस्त नारी जाति को श्रीमाँ का क्या अवदान है? इन्हीं बातों पर संक्षिप्त चर्चा करना ही इस निबन्ध का उद्देश्य है।

नारी का अर्थ

ईश्वर की इस विचित्र सृष्टि में, चार प्रकार के जीव हैं – स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज तथा जरायुज और इन सबमें मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ जीव है। क्योंकि एकमात्र मनुष्य ही सर्वज्ञता एवं पूर्णता प्राप्त करने में सक्षम है। ईश्वर की इस सृष्टि की परिकल्पना भी बड़ी सुन्दर है। इसमें स्वयं की लीला अपनी लीला का आस्वादन करने हेतु उन्होंने स्वयं ही मनुष्य बनाकर दो भागों में विभक्त कर लिया है – पुरुष और नारी। मनुष्य के इन दो विभागों – पुरुष और नारी के बीच शारीरिक तथा मानसिक के अनुसार स्वभाव तथा क्षमता का भेद होने के बावजूद, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् (१/४/३) में ऋषि कहते हैं – **स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति** – अर्थात् परमात्मा ने मानो स्वयं दो भागों में बाँट लिया और पति तथा पत्नी – पुरुष तथा नारी हो गये। जैसे आवरण के बिना सीप की जीवन-रक्षा नहीं हो सकती, पुरुष और नारी के बीच भी ठीक वैसा ही सम्बन्ध है। पर आत्मा के दृष्टिकोण से दोनों में कोई भेद नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४/३) आगे कहता है – **त्वं स्त्री, त्वं पूमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी** – अर्थात् तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं कुमार या तुम्हीं कुमारी हो। शारीरिक भेद रहने पर भी सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में किसी भी प्रकार का भेद स्वीकार्य नहीं है। अर्थात् नारी भी स्वरूपतः आत्मा ही है।

नारी की विशिष्टता

भारतभूमि में वैदिक, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक सभी युगों में महीयसी नारियों का अविर्भाव होता आया है और प्रत्येक क्षेत्र में – चाहे वह ब्रह्म विज्ञान का हो अथवा सामान्य ज्ञान का; आदर्श पत्नी के रूप में हो या माता के रूप में; तपस्या के क्षेत्र में हो या भक्ति के क्षेत्र में, उन्होंने चरम लक्ष्य को प्राप्त किया है। इसके असंख्य उदाहरण हैं – गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा, सीता, सावित्री, गान्धारी, खना, लीलावती, मीराबाई, रानी रासमणि आदि आदि। इनके जीवन का लक्ष्य ही था – जीवन के परम आदर्श को साकार करना। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक भारतीय नारी ही तपस्विनी है। श्रीमाँ ने कहा था, "दुःख क्या है – यह मैंने अपने जीवन में जाना ही नहीं।" तपस्या मुक्ति दिलाती है, इसलिये यह प्रत्येक भारतवासी की मनोवांक्षित वस्तु है। तपस्या कष्टकर होने पर भी, परिणाम में यह परम आनन्द प्रदान करती है। इसलिये कष्टकर होने के बावजूद यह महीयसी भारतीय नारियों ने कठोर तपस्या का जीवन अपनाया है – वे पवित्रता-स्वरूपिणी और तपस्विनी हैं।

नारी का आदर्श

भारतीय नारी का आदर्श है सतीत्व और उनकी पूर्णता है मातृत्व। इसीलिये रामकृष्ण अवतार में मातृभाव से साधना की गयी, एक स्त्री को गुरु के रूप में स्वीकार किया गया और पत्नी का मातृभाव से पूजन हुआ। मनु ने कहा है –

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यतन्ते सर्वान् तत्राफलाः क्रियाः ।।

– अर्थात् जिस स्थान पर नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता लोग निवास करते हैं और जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ की सारी धार्मिक क्रियाएँ व्यर्थहो जाती हैं। स्वामीजी ने कहा है – "नारी की पूजा करके ही आज सभी देश उन्नत हुए हैं। जिस देश में नारी की पूजा न हो, वह कभी उन्नत हो ही नहीं सकता – किसी भी काल में नहीं। तुम्हारे देश का इतना पतन क्यों हुआ? नारी का अपमान करने से ही।" ...

दुर्गा-सप्तशती में ऋषि कहते हैं – **या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता** – वे देवी ही समस्त प्राणियों में माँ के रूप में विराजमान हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "मातृभाव अन्तिम बात है। इसीलिए माँ सारदादेवी भी इसी मातृभाव की महिमा, गरिमा एवं माधुर्य का विश्ववासियों को आस्वादन कराने के लिये स्वयं 'सबकी माँ' होकर इस धराधाम पर आयी थीं, क्योंकि जब तक नारी शरीर न हो तब तक मातृत्व का पूर्ण विकास नहीं होता है, यह प्रकृति का नियम है।

इस मातृभाव का एक अन्य पक्ष भी है – माँ ही मानव-सभ्यता की प्रथम शिक्षक होती है। यदि आदर्श माँ न हो, तो आदर्श शिक्षण का अभाव होगा और आदर्श शिक्षण न हो, तो लोग आदर्श नागरिक नहीं बनेंगे। फिर आदर्श समाज का निर्माण कहाँ से होगा? अतः निष्कर्ष के रूप में हम सहज भाव से कह सकते हैं कि एकमात्र यह मातृभाव ही आदर्श समाज के गठन द्वारा विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है।

नारी की समस्या

वैदिक युग में नारियों को भी पुरुषों के समान ही हर प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त थी। कालक्रम से शनैः शनैः वे उन अधिकारों से वंचित तथा उपेक्षित होती गयीं। परन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त से एक बार फिर नारी के पुनरुत्थान की बातें चलने लगीं और आज पूरे विश्व में, समाज के हर वर्ग में नारी को सामाजिक, व्यक्तिगत, आर्थिक एवं धार्मिक – प्रत्येक क्षेत्र में बराबरी का न्यायिक अधिकार प्राप्त हो चुका है। फिर भी कुछ कमी-सी है, जिस कारण नारी अब भी दहेज-प्रथा, वधु-उत्पीड़न आदि समस्याओं से कष्ट भोग रही है। वैसे तो इन समस्याओं के कारण अनेक हैं, पर लगता है कि अपनी स्वभाव-सुलभ सहनशीलता के कारण भारतीय नारी अपने अधिकारों का दावा करने में अक्षम है और साथ ही समुचित शिक्षा का अभाव तो है ही।

पूछा जा सकता है – नारी की स्वाधीनता तथा अधिकारों का क्या तात्पर्य है? दार्शनिक दृष्टि से स्वाधीन उसे कहते हैं, जिसने अपनी अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति दोनों को वश में कर लिया हो – अर्थात् जिसने अपने शरीर-मन तथा बुद्धि को वश में कर लिया है, वही स्वाधीन है। इस दृष्टिकोण से तो प्रत्येक नर-नारी ही पराधीन है। सामान्य दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि नागरिकों के व्यक्तिगत विकास और राष्ट्रीय कल्याण के लिये उन्हें जो अधिकार तथा स्वाधीनता उन्हें दी जाती है, वह भी सीमाबद्ध है; क्योंकि राष्ट्र के सुचारु परिचालन के लिये प्रत्येक संस्था को स्वयं भी किन्हीं नियमों को मानकर चलना पड़ता है। अतः देश, काल, पात्र के अनुसार पूर्ण स्वाधीनता पर अंकुश लगाया जाता है। पूर्ण रूप से सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये तपस्या की जरूरत होती है। तपस्या के लिये आदर्श के विषय में सचेतन रहना पड़ता है और आदर्श के विषय में सचेतन रहना आदर्श शिक्षा की आवश्यकता होती है। स्वामीजी के शब्दों में – हर नर-नारी के भीतर ब्रह्मतेज तथा क्षात्रवीर्य को जगाना ही इस शिक्षा का उद्देश्य होगा। दहेज आदि सामाजिक समस्याओं का सामना करने के लिये नारियों को सर्वप्रथम संघबद्ध होना होगा और उसके बाद किसी राष्ट्रीय कल्याण के कार्यों में स्वयं को नियोजित करना होगा, ताकि पुरुषों की सहायता के बिना वे स्वयं ही अपने पाँवों पर खड़ी हो सकें। और इसी प्रकार उन्हें अपने अधिकारों तथा स्वाधीनता को पुनः अर्जित करना होगा। इसी बीच जो 'अन्तर्राष्ट्रीय नारीवर्ष' मनाया गया, उससे इसका थोड़ा आभास मिल जाता है।

अतएव अब बैठे रहने का समय नहीं है। श्रीमाँ ने एक बार गौरी-माँ से कहा था – "गौरी, तुम समस्त स्त्रियों को यह बतला दो कि उन लोगों ने पुरानी परिपाटी पर चलते रहने के लिये जन्म ग्रहण नहीं किया है। आज शिक्षित स्त्रियों की कमी नहीं है। परन्तु खेद की बात यह है कि युवाओं के 'नेताजी-युवक-संघ', 'विवेकानन्द-युवा-महामण्डल' आदि की तरह आज भी युवतियों के लिये 'श्रीमाँ सारदा कन्या संघ', 'रासमणि बालिका समिति' और 'मातंगिनी महिला संघ' आदि नहीं बन सके हैं। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ आगे बढ़कर क्यों इस प्रकार के किसी संघ की शुरुआत नहीं करतीं? चेष्टा करने पर वे क्यों नहीं इन समस्याओं को उखाड़ कर फेंक सकती हैं? इसीलिये तो स्वामीजी नारी मठ स्थापित करना चाहते थे। परन्तु सावधान, स्वाधीनता का तात्पर्य उच्छृंखलता कदापि न हो, अधिकार का अर्थ स्वार्थपरता न हो, अन्यथा इतो नष्टः ततो भ्रष्टः। लक्ष्य सिर्फ एक हो – समस्त बन्धन से मुक्ति अर्थात् अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति दोनों पर विजय। मैत्रेयी ने कहा था – **येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्** – अर्थात् जिससे अमृतत्व लाभ न हो, उसे पाकर क्या होगा? समस्त समस्याओं के समाधान के परिप्रेक्ष्य में यही एक सार्थक सन्देश है।

श्रीमाँ का अवदान

श्रीमाँ का जीवन नारीजाति की प्रत्येक समस्या के समाधान की क्षमता रखता है। माँ के जीवन-चरित्र पर थोड़ा-सा विचार करने से ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी। नारी चरित्र की पूर्ण विशालता, पूर्ण उदारता, पूर्ण पवित्रता, पूर्ण करुणा, पूर्ण स्नेह, पूर्ण सहनशीलता, पूर्ण क्षमाशीलता एकमात्र माँ श्री सारदा देवी के चरित्र में ही देखने को मिलती है। इतने सारे भावों का पूर्णरूपेण समावेश पृथ्वी में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। यह कैसे सम्भव हुआ? उनका विश्लेषण करने पर यह कहा जा सकता है कि श्रीमाँ शरीर से मानवी, प्रेरक के रूप में देवी और आदर्श के रूप में जननी थीं। इसका तात्पर्य-बोध करने हेतु यदि हम माँ के जीवन की किसी भी घटना का विश्लेषण करें, तो पायेंगे कि उन्होंने कभी कुछ भी अपने स्वार्थ के लिये नहीं किया; उसकी जगह उन्होंने अपना स्वयं का स्वार्थ, साध, मान आदि पूर्णरूपेण विसर्जित करके अपनी शिष्य-सन्तानों के कल्याण हेतु कष्ट सहते हुये स्वयं को पूर्णतः मिटा दिया।

उनकी पति सेवा का ही उदाहरण लें। एक सती-साध्वी पत्नी के रूप में उन्होंने अपने पति के समक्ष कभी किसी अधिकार का दावा नहीं किया; माँगा भी, तो एकमात्र सेवा का अधिकार ही माँगा। इष्टबुद्धि से पति की सेवा करते हुए उन्होंने नारी-जाति के परम आदर्श को जीवन्त किया। एक बार उन्होंने एक भक्त से कहा था कि वे ठाकुर को भी सन्तान रूप से ही देखती हैं। हे मानव ! क्या तुम इस आदर्श की परिकल्पना भी कर सकते हो? पूज्यपाद स्वामी अभेदानन्दजी ने अपने एक स्तोत्र में माँ के स्वरूप के विषय में लिखा है –

पवित्रं चरितं यस्याः पवित्र जीवनं तथा ।

पवित्रता-स्वरूपिण्यै तस्यै देव्यै नमो नमः ।।
– अर्थात् जिसका चरित्र और जीवन दोनों पवित्र हैं, इस पवित्रता स्वरूपिणी देवी को बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

आचरण करने के बाद जो प्राप्त होता है, उसी को चरित्र कहते हैं। श्रीमाँ का सारा जीवन पवित्र आचरण से भरा हुआ है और जीवन का अर्थ है – जिसके न रहने से प्राण न बचे। जिस प्रकार जल नहीं होने से मछली की प्राणरक्षा नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार पवित्रता का गुण ही श्रीमाँ का प्राणस्वरूप है, सर्वस्व है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टि में 'माँ' शब्द ही सर्वाधिक पवित्र हैं। माँ सारदा देवी स्वयं पवित्रता-स्वरूपिणी हैं, अत: वे विश्व-जननी के पद पर आसीन हैं। विश्वजननी का स्वरूप लिखने पर माँ की एक और उक्ति याद आती है – "मैं भले की माँ हूँ और बुरे की भी माँ हूँ। ... जैसे शरत् मेरा पुत्र है, वैसे ही अमजद भी मेरा ही पुत्र है।" उनकी यह वाणी आजीवन उनके आचरण में परिलक्षित होती रही। श्रीरामकृष्ण द्वारा परिकल्पित संन्यासी संघ के बीज को स्वामीजी ने बड़ा सहेज कर अपने पास रखा था। बाद में उन्होंने इसका रोपण किया और श्रीमाँ इसकी पोषक तथा रक्षक हुईं। इस रामकृष्ण संघ के मूल में श्रीमाँ का ही स्नेह, त्याग, क्षमा, सहनशीलता तथा करुणा निहित है – पहले भी थी, आज भी है और अन्त तक रहेगी। भगिनी निवेदिता की इस उक्ति का बारम्बार स्मरण हो आता है – "Her Presence is sanctified. Shri Ramakrishna wants we Shall become like her. – अर्थात् उनका जीवन पवित्रता-स्वरूप है। श्रीरामकृष्ण चाहते हैं कि हम भी उन्हीं के समान हों।"

इसीलिये ऐसा लगता है श्रीमाँ केवल भारतवर्ष की ही नहीं अपितु पूरे विश्व की नारियों की आदर्श हैं। प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों ही समाजों में श्रीमाँ का जीवन आदर्श नारी समाज के गठन में सक्षम है। पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज की उक्ति में भी यही भाव झलकता है – "श्रीमाँ को भला किसने समझा है? समझ भी कौन सकता है? तुम लोगों ने तो सीता, सावित्री, विष्णुप्रिया, राधारानी आदि के विषय में ही सुना है। पर माँ कितने उच्च आसन पर बैठी हैं! ऐश्वर्य का लेशमात्र भी नहीं है। यहाँ तक कि ठाकुर में भी विद्या का ऐश्वर्य था। जीवन में कितनी बार हमने उनकी भाव-समाधि देखी है। पर माँ में विद्या का ऐश्वर्य तक गुप्त था। ये क्या महाशक्ति हैं! जय माँ! जय माँ! जय शक्तिमयी माँ! देखते नहीं हो, कितने लोग चले आ रहे हैं। जो विष हम स्वयं हजम नहीं कर पाते हैं, उसे माँ की तरफ भेज देते हैं और माँ सभी को अपनी गोद में आश्रय देती हैं – अनन्त शक्ति, अपार करुणा, जय माँ! हम लोगों की बात ही क्या – स्वयं ठाकुर को ऐसा करते नहीं देखा गया! वे कितना चुन-चुन कर शिष्यों को लेते थे और यहाँ क्या देखते हो? अद्भुत्! अद्भुत्! सभी को ग्रहण करती हैं और सब कुछ हजम भी हो जाता है। माँ! माँ! जय माँ!"

इसीलिये देखने में आता है कि समाज के किसी भी स्तर के नर-नारी श्रीमाँ की करुणा से अछूते नहीं रहे। स्वामीजी जिस वन के वेदान्त को प्रत्येक घर तक पहुँचाना चाहते थे, वही व्यावहारिक वेदान्त श्रीमाँ के जीवन में प्रस्फुटित होकर मूर्त रूप धारण किया है। इस युग में मानवी, दैवी व मातृत्व – इन तीनों भावों को समन्वित रूप हमें श्रीमाँ के जीवन में ही मिलता है! दस हजार वर्षों की परम्परा से चले आ रहे शुद्ध वेदान्त और चतुर्विध वर्णाश्रम-धर्म की साधना की सिद्धि रूप – जीवन्मुक्ति की अवस्था में जिस आत्यन्तिक दु:ख-निवृति और परमानन्द की प्राप्ति होती है और जो हमारी कल्पना से भी परे है; श्रीमाँ का जीवन उसी अवस्था का ज्वलन्त उदाहरण है। त्याग और तपस्या ही भारतीय नारी की विशिष्टता है और माँ को समझने के लिये हमें अपने जीवन को उसी धारा में प्रवाहित करना होगा। अर्थात् श्रीमाँ का जीवन ही भारतीय नारी का आदर्श हो – उसी से इस जगत् का कल्याण हो और उसी से इसमें शान्ति विराजेगी। **(अनुवादक – डॉ. प्रणव देव)**

पुरखों की थाती

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यते न ते विपदा ।।

– टूटा हुआ वृक्ष पुन: बढ़ता है, क्षीण हुआ चन्द्रमा पुन: वर्धित होता है – ऐसा विचार करते रहनेवाले व्यक्ति को विपत्ति कभी निराश नहीं कर सकती।

छायामन्यस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठन्ति चातपे ।
फलान्यपि परार्थाय वृक्षाः सत्पुरुषा इव ।।

– महापुरुषों के समान ही वृक्ष भी स्वयं धूप में खड़े रहकर अन्य लोगों को छाया प्रदान करते हैं और उनमें पैदा होनेवाले फल भी दूसरे के कल्याणार्थ ही होते हैं।

तावन्माम्-अर्चयेद्-देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः ।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ।।

– मनुष्य को तब तक अपने कर्मों द्वारा मूर्ति आदि के द्वारा ईश्वर की अर्चना करनी चाहिये, जब तक कि उसे सभी प्राणियों तथा अपनी आत्मा में भी मेरी (ईश्वर की) विद्यमानता का बोध न होने लगे।

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००७ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद (उ.प्र.) २११००३

दूरभाष : (०५३२) २४१३३६९ फैक्स : २४१५२३५

ई-मेल : rkmathald@dataone.in

माघ मेला सेवा-शिविर – २००८

नम्र निवेदन

प्रिय बन्धु,

पुण्यतोया त्रिवेणी के पवित्र संगम पर प्रति वर्ष माघ महीने में एक मास व्यापी मेले का आयोजन होता है। लाखों की संख्या में साधु और भक्त इस पुण्य क्षेत्र में स्नान तथा कल्पवास के लिये पधारते हैं।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, प्रयाग (इलाहाबाद) प्रतिवर्ष इस मेले के शुभ अवसर पर साधु-भक्तों की नि:शुल्क सेवा तथा धर्म प्रचार के लिये इस पुण्य क्षेत्र में एक माह के लिये एक सेवा-शिविर का आयोजन करता है।

सन् २००८ में शिविर का आयोजन २० जनवरी से २१ फरवरी तक होगा।

शिविर की मुख्य गतिविधियाँ निम्न हैं :

१. साधु-भक्तों की नि:शुल्क सेवा के लिये एक औषधालय (एलोपैथी) जिसमें विशेषज्ञ चिकित्सकों की सेवायें उपलब्ध होती हैं।
२. पूजागृह सहित सत्संग मण्डप (आध्यात्मिक प्रवचन तथा भजन के लिये)
३. सत्संग के लिये बाहर से आने वाले भक्तों के लिये आवासीय व्यवस्था।
४. रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा तथा वेदान्त प्रचार के लिये एक पुस्तक केन्द्र, जिसमें हिन्दी, अँग्रेजी तथा बँगला में पुस्तकें बिक्री के लिये उपलब्ध रहती हैं।
५. भगवान श्रीरामकृष्णदेव एवं स्वामी विवेकानन्द के पूत जीवन सम्बन्धी चित्र प्रदर्शनी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन सेवा कार्यों में प्रचुर धन व्यय होता है। आपके द्वारा उदारतापूर्वक दिया गया दान सेवा कार्यों के सुचारु संचालन में हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी होगा। इस पुण्य कार्य में आपके सहयोग के लिये हम कृतज्ञ रहेंगे।

अपना चेक/ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के नाम पर लिखें।

आप सबके कल्याण की प्रार्थना के साथ,

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी त्यागात्मानन्द
सचिव

शिविर में भक्तों के लिये आवासीय व्यवस्था

इस वर्ष माघ मेला शिविर (२० जनवरी से २१ फरवरी) में आने के इच्छुक भक्तों के लिये भोजन और निवास का प्रबन्ध किया गया है। प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति का शुल्क १००/- होगा। इसमें भाग लने के इच्छुक भक्तों को कम-से-कम ३ दिनों का शुल्क ३००/- रू. देना होगा। कल्पवास (२० जनवरी से २१ फरवरी, २००८) करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिये शुल्क २५००/- रू. होगा।

भक्तगण जितने दिनों तक शिविर में रहना चाहते हैं, अपना भोजन और निवास शुल्क अग्रिम रूप से रेखांकित ड्राफ्ट अथवा मनिआर्डर द्वारा 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद' के नाम पर ३१ दिसम्बर २००७ तक अवश्य भेज दें।

विशेष आवासीय भक्तों को यातायात व्यवस्था की परेशानी से बचने हेतु स्नान के २ दिन पहले आना श्रेयस्कर होगा।

महत्वपूर्ण स्नान के दिन

पौष पूर्णिमा २२ जनवरी, मौनी अमावस्या ७ फरवरी, बसन्त पंचमी १२ फरवरी, माघ पूर्णिमा २१ फरवरी।

*** कृपया अधिक जानकारी के लिये रामकृष्ण मिशन आश्रम, इलाहाबाद में सम्पर्क करें।**

*** रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स १९६१ की धारा ८०जी के अधीन आयकर से मुक्त है।**